द्रव्य सहयोग दाता

धर्मशीला, माता श्री गौरां देवी जी
लुधियाना (पंजाब)

स ह र्ष ध न्य वा द

समर्पण

उस प्रकाश-पुञ्ज को—
जिन के अमृतमय वात्सल्य का,
सरस, शुभकर और मधुर एवं सतेज,
विचार-स्फुलिंग पाकर ही मैं,
अहिंसा और अनेकान्त की,
संजीवनी शक्ति पा सका हूँ।

जिनके पवित्र कर कमलों से,
आचार की दीक्षा और विचार की
ज्योति पाकर मैं धन्य-धन्य हो गया,
उन परम-श्रद्धेय, पूज्य-चरण
'गुरु देव श्री खजानचन्द्र जी महाराज को'
सविनय
सभक्ति
समर्पित

— फूल मुनि "श्रमण"

प्रस्तावना

दार्शनिक जगत् में अनेकान्त वाद को एक स्वतन्त्र-वाद के रूप में विकसित एवं प्रतिष्ठित करने का सम्पूर्ण श्रेय जैनाचार्यों को है। अनुयोग द्वार आदि जैन आगमों में अनेकान्तवाद की मात्र प्राथमिक भूमि ही देखी जाती है किन्तु इसे दार्शनिक धरातल पर लाने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन और आचार्य मल्लवादी को है। सिद्धसेन ने सन्मति तर्क में अनेकान्त-दृष्टि से वीतराग-स्तुति एवं मूलाधार नयवाद का विशद विवेचन किया है तथा मल्लवादी ने 'नयचक्र' में यह दिखलाने का सफल प्रयत्न किया है कि दार्शनिक विचारों में विविध नय किस प्रकार संनिहित हैं?

आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्त-मीमांसा' में स्याद्वाद पर पैनी दृष्टि से विवेचन किया है कि विभिन्न दर्शनों में स्याद्वाद के बिना किस प्रकार विचारों की असंगति रहती है। आचार्य अकलंक और विद्यानन्द ने 'आप्त-मीमांसा' पर पाण्डित्यपूर्ण विवरण लिखकर समन्तभद्र के गम्भीर विचारों की मान्यता सिद्ध की है।

आचार्य हरिभद्र ने 'अनेकान्त जय पताका' में तत्कालीन दार्शनिकों के एकान्तवादी विचारों की सूक्ष्म-समीक्षा करके अनेकान्तवाद की स्थापना की। इसी प्रकार उत्तर कालीन जैन-दार्शनिकों ने अपने युग में अनेकान्तवाद स्याद्वाद और नय-वाद पर संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में अनेकानेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सृष्टि की।

विक्रम संवत् की १७ वीं सदी के परम विद्वान् और विराट दार्शनिक उपाध्याय यशोविजय ने अपने 'अनेकान्तव्यवस्था' 'नय प्रदीप' 'नयोपदेश' और अष्ट सहस्री विवृत्ति आदि गौरवपूर्ण ग्रन्थों में भारतीय दर्शनों के १७ वीं सदी तक के विकास को अनेकान्तवाद में आत्म सात्

कर दार्शनिक साहित्य के भण्डार को एक महत्त्वपूर्ण देन दी है।

आज का यह अणुयुग एवं स्पूतनिक युग भले ही भौतिक विकास की ओर तीव्रगति से गतिमान हो, परन्तु उसके समक्ष एक प्रश्न अड़ा खड़ा है, कि वह मानव-कल्याण के लिए क्या कुछ दे रहा है, या दे सकता है? निःसंदेह यह कहने के लिए मैं बाध्य हूँ, कि जब तक मानव समाज को अनेकान्तदृष्टि से विचार शुद्धि एवं स्याद्वाद से भाषा शुद्धि नहीं होगी, तब तक मानव जीवन के कल्याण की दिशा स्थिर न हो सकेगी। अस्तु, पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों को भी अनेकान्त के समन्वय मूलक साँचे में ढालने का आज शुभावसर आ चुका है। परन्तु यह शुभानुष्ठान किसी समर्थ विद्वान की राह देख रहा है।

आज हिन्दी राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। अतएव हिन्दी भाषा में भी अनेकान्तवाद के जनोपयोगी विविध साहित्य की सृष्टि अत्यावश्यक हो गई है। अस्तु इधर हिन्दी भाषा में अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद और नयवाद पर पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का 'जैन-दर्शन एक महत्व पूर्ण ग्रंथ है। मुनिराज श्री न्याय विजय जी का 'जैन-दर्शन भी सामान्य परिचयात्मक एक अच्छा ग्रन्थ है।

मुनि श्री फूलचन्द्र जी श्रमण' का प्रस्तुत पुस्तक 'नय-वाद' जिज्ञासुओं को अनेकान्तवाद में प्रवेश करने के लिए एक सरल एवं सुबोध साधन सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं है। संवाद-शैली में विषय को सुगम करने का प्रयत्न स्तुत्य है। अहिंसा आदि पंच संवर पर सप्त नयों की अवतारणा किस प्रकार हो सकती है? यह परिशिष्ट में देकर मुनि श्री ने नयों की विवेचना का विस्तृत क्षेत्र विद्वानों के समक्ष उपस्थित किया है। कहीं-कहीं विचारों में अस्पष्टता होते हुए भी पुस्तक उपयोगी है।

हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस। — दलसुख, मालवणिया
ता० ३-१-५८

प्रकाशकीय

सन्मति ज्ञान-पीठ के चमकते-दमकते और जीवन विकास के लिए सत्प्रेरणा देने वाले सुन्दर प्रकाशनों की लड़ी की एक कड़ी 'नय-वाद' भी विचार-प्रधान अध्येताओं के कर कमलों में आ पहुँचा है।

जैन-दर्शन के प्राण अनेकान्त-दृष्टि और स्याद्वाद के गम्भीर एवं विराट् रहस्य को समझने के लिए 'नय-वाद' आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने 'नय-वाद' जैसे गुरु गम्भीर विषय को सरल और सुबोध रूप में पाठकों के सम्मुख रखकर साहित्य जगत् की अनुपम सेवा की है।

एक बात—जिसे भुलना भी भूल होगी वह यह है कि पुस्तक के प्रकाशन में द्रव्य-दान देने वाले व्यक्ति को भुलाया नहीं जा सकता। लुधियाना जैन समाज के प्रमुख व्यक्ति स्वर्गीय लाला नौहरियामल जी को कौन नहीं जानता? सन्तों की सेवा और समाज की सेवा में आपकी विशेष अभिरुचि थी। तन मन और धन से आपने सदा धर्म की सेवा की थी।

आपकी धर्मपत्नी धर्मशीला श्रीमती वीरा देवी जी भी सन्त-भक्ति, समाज सेवा और धर्म अनुष्ठान में आप के समान ही सदा अग्रसर रहती हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में श्रीमती वीरा देवी ने एक सहस्र का दान देकर साहित्य की सुन्दर सेवा की है। सन्मति ज्ञान-पीठ आप के इस धर्ममय अर्थ-सहयोग का धन्यवाद करता है।

श्रीमती वीरादेवी जी के तीन पुत्र रत्न हैं—श्री रामप्रकाश जी, श्री गोवर्धनदास जी और श्री केदारनाथ जी। तीनों भाई धर्म-प्रेमी समाज-सेवी और विनय-विनम्र हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर-

विश्वास है, कि आप तीनो भाई भी अपने महान् पिता के तुल्य ही सन्त-भक्ति, समाज सेवा और धर्म-विकास के सत्कार्यो में अभिरुचि लेते रहेंगे।

आशा है, प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन समाज के लिए शुभकर एव हितकर रहेगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में श्री लक्ष्मीनारायन जी यादव ने सुन्दर छपवाने में उदारता का परिचय दिया है। श्रीयुत बाबूराम जी शर्मा का सहयोग स्मरणीय रहेगा। शर्मा जी के सहयोग के बिना पुस्तक इतनी सुन्दर नही बन सकती थी।

मन्त्री

विजयसिह दूगड

दिशा-संकेत

दृष्टि-कोण—मानव का स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टि-कोण ही उसे सत्य की ओर ले जाता है। सत्य—विशाल व्यापक अनन्त और अखण्ड होता है। परन्तु सामान्यतः मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप में जान नहीं पाता। खण्ड रूप में अथवा अनेक पक्षों में ही वह वस्तु का परिबोध कर पाता है। सत्य के परिज्ञान के लिए किंवा ज्ञात सत्य को जीवन के समतल पर उतारने के लिए, व्यापक दृष्टि-कोण की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी है।

व्यष्टि समष्टि और परमेष्ठी—जीवन विकास की यह क्रम-पद्धति है। जैन-दर्शन की सर्वतोमुखी अनेकान्त दृष्टि जैन-धर्म का सर्व सहिष्णु अहिंसा सिद्धान्त और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद—ये तीनों मिल कर एक ही कार्य करते हैं। और वह यह है कि व्यष्टि अपनी क्षुद्र सीमा में कैद न हो जाए, समष्टि व्यक्ति के विकास मार्ग में चट्टान बन कर उसके विकास को अवरुद्ध न करे अपितु एक-दूसरे से समन्वित कर के दोनों परमेष्ठी के रूप में परिणत हो जाएँ, परम ज्योति बन जाए।

वस्तु-तत्त्व—इस सुन्दर एवं सर्व हितकर विशाल दृष्टि-कोण को जीवन में ढालने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। चेतन-अचेतन मय इस जगत की प्रत्येक वस्तु-तत्त्व है शाश्वत है अनन्त है। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वह कभी नहीं थी—यह नहीं कहा जा सकता। वह कभी नहीं रहेगी—यह नहीं कहा जा सकता। वह नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता। कहा यह जाएगा कि—वह थी है और रहेगी। भूत वर्तमान और भविष्यमाण—इन तीनों कालों में उसका सर्वथा विच्छेद नहीं होता।

हाँ तो, वस्तु सत् है, शाश्वत है, नित्य है—परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं,—परिणामी नित्य है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम, उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है ।

अस्तु, द्रव्य-दृष्टि से वस्तु नित्य है, विगम और उत्पाद की दृष्टि से, अर्थात्—पर्याय-दृष्टि से परिणामी-प्रतिक्षण बदलने वाली भी है। कनक के कगन को तोड कर उसका मुकुट बनवा डाला। हुआ क्या ? आकृति बदल गई, परन्तु उसका कनकत्व नही बदला। वह तो ज्यों का त्यो है। जैसा पहले था, वैसा अब भी। सिद्धान्त यह रहा कि—"द्रव्य नित्य, आकृति पुनरनित्या।"

प्रमाण और नय—अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सम्यग्ज्ञान दो से होता है—प्रमाण से और नय से। अनन्त धर्मात्मक वस्तु तत्व के समग्र धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला ज्ञान-प्रमाण होता है, और उस वस्तु के किसी एक ही धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान, नय कहा जाता है ।

'**अयघट**'—यह ज्ञान प्रमाण है। क्योंकि इस में घट के रूप, रस, स्पर्श और गन्ध तथा कनिष्ठ-ज्येष्ठ आदि समग्र धर्मो का परिबोध हो जाता है। परन्तु जब यह कहा जाता है,—'**रूपवान् घट**' तब केवल घट के अनन्त धर्मों में से 'रूप' का ही परिज्ञान होता है, उसके अन्य धर्म रस, स्पर्श और गन्ध आदि का नहीं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के परिज्ञान मे अश कल्पना—यही वस्तुत नय है। अत अशी के किसी एक अश का ज्ञान 'नय' और अनेक अशो का ज्ञान 'प्रमाण' होता है।

नय-वाद—'नय वाद' वस्तुत जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट और व्यापक विचार-पद्धति है। जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण 'नय' से करता है। जैन-दर्शन में एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नही है, जो नय-शून्य हो। विशेषावश्यक भाष्य में यह तथ्य इस प्रकार है—

"नत्थि नएहि विहुरा,
सुत्त अत्थो य जिण-मए किंचि।"

जैन दार्शनिकों के समक्ष एक प्रश्न बड़ा ही जटिल साथ ही गम्भीर था कि नय क्या है ? नय प्रमाण है किंवा अप्रमाण ? यदि वह प्रमाण है तो प्रमाण से भिन्न क्यों ? और यदि वह अप्रमाण है, तो वह मिथ्या ज्ञान होगा। और मिथ्या ज्ञान के लिए विचार जगत् में क्या कहीं स्थान होता है ?

इन प्रश्नों का मौलिक समाधान जैन दार्शनिकों ने बड़ी गम्भीरता और सतर्कता से किया है। वे अपनी तर्क-शैली में कहते हैं—

"नय न प्रमाण है और न अप्रमाण। परन्तु प्रमाण का एक अंश है। सिन्धु का एक बिन्दु, न सिन्धु है, और न असिन्धु—अपितु वह सिन्धु का एक अंश है। एक सैनिक को सेना नहीं कह सकते परन्तु उसे असेना भी तो नहीं कह सकते। क्योंकि वह सेना का एक अंश तो है ही। नय के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।"

प्रमाण का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय है उस वस्तु का एक अंश।

यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश (धर्म) को ग्रहण करता है तो वह मिथ्या ज्ञान ही रहेगा। फिर उस से वस्तु का यथार्थ बोध कैसे होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर भी जैन दार्शनिकों ने अपनी उसी सत्य-मूलक तर्क शैली पर दिया है—

"नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है, यह सत्य है। परन्तु इतने मात्र से ही वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता। एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंशों का निषेधक हो जाए तभी वह मिथ्या होगा। किन्तु जो अंश मात्र अपने से अतिरिक्त धर्मों का निषेधक न होकर केवल अपने दृष्टि-कोण को ही व्यक्त करता है तो वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता।

हाँ जो नय अपने स्वीकृत अंश का प्रतिपादन करते हुए यदि अपने से भिन्न दृष्टि-कोण का निषेध करते हैं तो निस्सन्देह वे नयाभास किंवा

दुनय कहे जाएंगे। परस्पर निरपेक्ष नय दुनय है, और सापेक्ष सुनय है।

नयो की सख्या—यद्यपि नय अनन्त है, क्योंकि वस्तु के धर्म अनन्त हैं, फिर भी नयो के मूल मे दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अभेदगामिनी दृष्टि को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, और भेदगामिनी दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नयो में नैगमादि तीन द्रव्यार्थिक हैं और ऋजुसूत्रादि चार पर्यायार्थिक।

उपसहार—प्रस्तुत 'नय-वाद' पुस्तक में जैन-दर्शन के इसी जीवातु भूत 'नय-तत्व' का विवेचन, विश्लेषण और प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक की भाषा और शैली यद्यपि पुरातन है, तथापि विचारो के प्रस्थापन मे प्रामाणिकता से काम लिया गया है। शैली पुरानी होने से कही कही पर पाठको को कुछ विषय अस्पष्ट-सा लग सकता है। परन्तु यह निसन्देह कहा जा सकता है, कि सब मिला कर पाठ्य-सामग्री पाठको को अवश्य ही लाभान्वित करेगी। सस्कृत और प्राकृत मे इस विषय पर पर्वताकार विपुल साहित्य लिखा गया है। परन्तु राष्ट्र-भाषा हिन्दी मे इस विषय की और इस जैसी कोई स्वतन्त्र पुस्तक अभी तक मेरे देखने मे नही आई।

मुनिश्री फूलचन्द जी श्रमण' मेरे चिर परिचित स्नेही मुनि हैं। वे जहा एक विचारक हैं, वहा साधक भी हैं। इसलिए वे अपने परिचितो मे 'योग निष्ठ' के नाम से जल्दी पहचाने जाते हैं। मुनिश्री का स्वाध्याय विशाल है और वे सैद्धान्तिक विषयो पर सतत चिन्तन-मनन करते रहते हैं। उसी प्रशस्त स्वाध्याय श्रम का यह सुन्दर वैचारिक फल 'नय वाद' के रूप में हमारे हाथो में है। प्रस्तुत कृति को देखते हुए मैं आशा करता हूँ, भविष्य में श्रमण जी की ओर से सैद्धान्तिक विषय पर इससे भी अधिक गम्भीर अथच स्पष्ट कृति—जिज्ञासुओं की सेवा में प्रस्तुत की जाएगी।

जैन-भवन, आगरा।
१ जनवरी, १९५८

उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादकीय

'नव बात' के पुस्तक रूप ने मेरी अनुभव सीमा में 'भव' की भीनासर में और 'इति' की आगरा में। यह भव से इति तक की कहानी लम्बी भी हो चुकी है, कुछ पुरानी-सी। परन्तु सब मिला कर यह कहानी अन्ततः बड़ी ही सुखान्त तथा सुखान्त रही।

भीनासर सम्मेलन के मधुर एवं सुअवसर पर मेरे मित्र जिन की सुलभचन्द्र जी 'कमल' से कितने ही वर्षों बाद मिलन सम्मेलन हुआ। हम एक-दूसरे को भूल गए हों, यह बात तो नहीं, किन्तु यह सत्य है कि बहुत दिनों की धूमिल स्मृति ताजा हो उठी। हमें एक-दूसरे के विचार विनिमय से बहुत-सी नयी बातें मिलीं।

एक दिन बात-चीत के प्रसंग में 'कमल जी' ने मुझ से कहा—विजय जी! तुम्हें मेरा एक काम करना होगा। मैंने विनम्र भाव से कहा—बोलिए, क्या आज्ञा है, आपकी? उन्होंने अपनी बात का सिलसिला जोड़ते हुए कहा—

'सम्यक्-दर्शन' पत्र में मेरे लघु निबन्ध लेख तो आपने पढ़े होंगे? मैंने कहा—जी हाँ, पढ़े तो हैं। उन्होंने संकोच की भाषा में कहा—उन लेखों का सम्पादन एवं प्रकाशन व्यवस्थित नहीं हो पाया है। अतः मैं चाहता हूँ कि आप उनका सुन्दर पद्धति से सम्पादन कर दें।

मेरे इन्कार करते रहने पर भी उन्होंने अपनी बात का आग्रह रखा। मैंने इस कार्य के लिए अपने अन्य स्नेही साथियों की योग्यता की ओर स्पष्ट संकेत भी किया, परन्तु 'कमल' जी अपने आग्रह पर अडोल रहे। फलतः यह कार्य मुझे लेना ही पड़ा।

कुचेरा के वर्षा-वास में पूज्य गुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक न रहने से मुझे सम्पादन का अवकाश नहीं मिल सका। अतः यह कार्य आगरा

में प्रारम्भ किया, और मुझे प्रसन्नता है कि उसे मैं यथा शक्ति पूर्ण कर सका हूँ।

प्रस्तुत पु तक की भाषा तथा शैली के सम्बन्ध में मैंने यहाँ से लेखक मुनि जी से पूछा था कि—क्या इसको नया रूप दे दिया जावे ? परन्तु यह बात स्वीकृत न हो सकी। फलत उन्हीं की भाषा में और बहुत कुछ उन्हीं की शैली में आवश्यक फेर-बदल के साथ पुस्तक को सजा दिया गया है। यद्यपि उनके भावों में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं डाला गया है, फिर भी सहृदय पाठक यदि कभी 'सम्यक्-दशन' में पूर्व प्रकाशित लेखों के साथ इस पुस्तक की तुलना करेंगे, तो उन्हें अवश्य ही कुछ आवश्यक अन्तर दीख पड़ेगा। पुस्तक के प्रकाशन में श्री अखिलेश मुनि जी महाराज का दिशा-दर्शन भी मेरे कार्य को सुन्दर बनाने में सहयोगी रहा है।

पुस्तक के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ, और कैसे कहूँ ? इसका निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोडता हूँ। हाँ इतना कहने की अभिलाषा अवश्य रखता हूँ कि लेखक मुनि जी अपने प्रतिपाद्य विषय के विज्ञ अध्येता हैं। उन्होंने इस दिशा में काफी गहराई तक अभ्यास किया है। वस्तुत उनका श्रम प्रशसनीय है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अपने ढग की हिन्दी में यह प्रथम कृति है।

अस्तु, यदि पाठक प्रस्तुत पुस्तक को मनोयोग से पढ़ेंगे, तो उनके ज्ञान की अभिवृद्धि होगी, और लेखक मुनि जी का श्रम भी सफल होगा

जैन-भवन
लोहामडी, आगरा
१ जनवरी १९५८

विजय मुनि

कहाँ क्या है ?

इति विविध-भङ्ग-गहने,
सुदुस्तरे मार्ग-मूढ-दृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरण ,
प्रबुद्ध नय-चक्र सञ्चारा ः ॥

— आचार्य अमृतचन्द्र

"अत्यन्त विकट और विविध भग जालो से घनीभूत नय-चक्र वन मे, राह भूले मनुष्यो को सन्मार्ग बताने वाले वे सद्गुरु ही शरण-भूत हो सकते हैं, जो नय-चक्र के पारगत विद्वान् है ।"

नयवाद

उपक्रम

जेण विणा लोगस्स वि,
ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो ;
णमो अणेगंत-वायस्स ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात् तदयुक्तं स्व-घाततः ॥

— आचार्य समन्त भद्र

आपकी अनेकान्त-दृष्टि सच्ची है, इसके विपरीत जो एकान्त मत है, वह शून्य है, अर्थात्—असत् है। अतः जो कथन अनेकान्त दृष्टि से रहित है, वह सब मिथ्या है, क्योंकि वह अपना ही घातक है।

१

उपक्रम

भारतीय-संस्कृति में बसन्त-समय को मधु-मास कहा गया है। बसन्त-समय सुन्दर,सुरभित और सरस होता है। जिस समय प्रकृति के प्रांगण में बसन्त समवतरित होता है उस समय सर्वत्र नया जीवन नयी चेतना और नया जागरण प्रादुर्भूत हो जाता है। प्रकृति के कण-कण में आनन्द हर्ष और उल्लास प्रकट होने लगता है। मधु से महान् और महान् से मधु समस्त प्रकृति-जगत् अभिनव सौन्दर्य एवं अद्भुत माधुर्य से भर जाता है। मधु-मास अर्थात् बसन्त आनन्द का प्रतीक माना गया है।

सुरभित बसन्त का सुन्दर समय था। धरती-तल पर चारों ओर हरियाली का प्रसार था। तरु और लताएँ पल्लवित पुष्पित तथा फलित होकर आनन्द में झूम रहे थे। अभिनव किसलयों के सौन्दर्य से सुमनों के सौरभ से और फलों के मधुर रस से तरु और लताएँ मानो जन-सेवा करने का सौभाग्य संचित कर रही थीं।

वसन्त-काल का सुरभित मधु-मास पथिक-जनो के श्रम को अपने अद्भुत सौन्दर्य से, मलय-पवन के शीतल एव मन्द झकोरो से और सुमनो की सुरभि से दूर कर रहा था।

सहकार-तरुओ पर नाचती-कूदती कोकिलें अपनी माधुर्य-पूर्ण स्वर-लहरी से सम्पूर्ण वन-प्रान्त को मुखरित कर रही थी। कोकिल का मधुर कूजन वसन्त के अस्तित्व का जय-घोप कर रहा था।

कल-कल करती सरिताएँ अपनी शीतल एव निर्मल जल धारा से आतप-तापित शुष्क भूमि को सस्य-श्यामला बनाने के हर्प मे, अपनी मस्ती मे झूमती वही चली जा रही थी। मानो, वे 'सरिता पति' से मिलने के लिए उतावली होकर भागी चली जा रही हो?

वागवान अपने वाग को सँवारने-सजाने मे मस्त था, और किसान अपने खेतो मे आशा-भरे हृदयो से व्यस्त थे। किसान अपने खेत के हर दाने मे अपना आशा पूर्ण भविष्य निरख रहा था, वागवान को अपने बाग के हर पौधे मे भविष्य की सुनहरी आशा दीख रही थी।

मधु-मास के सुरभित इस वन-प्रान्त के एक भाग मे, हरे-भरे घटादार वृक्ष की सघन छाया मे एक निर्ग्रन्थ योगोराज तपस्वी अपनी ध्यान-मुद्रा मे सलीन था। एकान्त मे मानो वह बाह्य-सृष्टि के सौन्दर्य मे भी अति महान् अन्त-सौन्दय का दशन कर रहा हो?

सन्ध्या का स्वर्णिम-सूर्य अपनी सुवर्णमयी किरणो को तरु शिखरो पर बिखेरता हुआ, अस्ताचल की ओर तेज गति

से बह रहा था। खग-कुलों के मधुर कूजन से सम्पूर्ण वन-प्रान्त मुखरित और प्रतिध्वनित हो उठा।

गुरु-कुल का प्रधान अध्यापक अपने सुयोग्य छात्रों के साथ ताजा पवन सेवन के लिए वन प्रान्त के किसी भाग में निर्मित 'देव-रमण' उद्यान में आ पहुँचा। कतिपय छात्र पहले ही वहाँ जमे बैठे थे अपनी पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन मनन और चिन्तन कर रहे थे। परिशीलन के लिए एकान्त स्थल अत्यन्त उपयुक्त होता है।

देव रमण उद्यान में इधर-उधर बिछे शिला-पट्टों पर छात्र और उनका अध्यापक भी यथास्थान बैठ गए थे। बात चीत के प्रसंग में चर्चा चल पड़ी कि वस्तु का सम्यग् ज्ञान कैसे होता है? किसी भी वस्तु का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्या क्या साधन अपेक्षित है? बुद्धिमान् मनुष्य जब किसी विषय पर चर्चा-वार्ता करते हैं तब कोई न कोई तथ्य अवश्य ही निकलता है।

एक छात्र जो असाधारण बुद्धिमान् था। बोला—प्रमाण और नय से वस्तु का सम्यग् ज्ञान होता है। वस्तु कहीं पर भी किसी भी प्रकार की क्यों न हो उसका परिज्ञान प्रमाण और नय से ही हो सकता है। बिना प्रमाण और नय के किसी भी वस्तु का परिज्ञान सम्भव नहीं है।"

दूसरे छात्र ने बीच में ही प्रतिप्रश्न करते हुए कहा—प्रमाण और नय में क्या भेद है? प्रमाण और नय का क्या लक्षण है?

प्रथम छात्र ने समाधान करते हुए कहा—"प्रमाण और नय दोनो ज्ञान ही हैं। फिर भी दोनो में कुछ भेद अवश्य है।" वह इस प्रकार है—

"जो ज्ञान वस्तु के अनेक या सर्व अंशो को ग्रहण करता है, वह प्रमाण है, और जो ज्ञान वस्तु के किसी एक अंश को ग्रहण करता है, वह नय है।"

धीरे-धीरे चर्चा का मोड नय-स्वरूप पर आ लगा।

नय-स्वरूप

नत्थि नएहिं विहुणं,
सुत्त अत्थो य जिण-मए किंचि ।

—विशेषावश्यक भाष्य

नयास्तव स्यात्-पदलाञ्छना इमे,
रसोपविद्धा इव लोह-धातव ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो ,
भवन्तमार्या. प्रणता हितैषिण ॥

— 'आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

"जिस प्रकार स्वर्ण-रस के सयोग मे लोह धातु (स्वर्ण बनकर) अभीष्ट फल देने वाले बन जाते है, उसी प्रकार आपके नय भी 'स्यात्' शब्द लगने पर अभीष्ट फल देने वाले हो जाते हैं। अत अपना हित चाहने वाले भक्त-जन आप को सभक्ति नमस्कार करते है।"

२
नय-स्वरूप

प्रथम छात्र

पहला छात्र विनीत स्वर में बोला—प्रिय साथियो ! यद्यपि नय का विषय अत्यन्त विस्तृत और साथ ही अत्यन्त गम्भीर भी है तथापि इस विषय पर मैं अपना विचार व्यक्त करता हूँ। मेरे विचार में नय का स्वरूप यह है—

जिसके द्वारा अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के किसी एक पर्याय का निश्चय किया जाए वह नय है। —१

द्वितीय छात्र

दूसरा छात्र बोला—आपने कहा वह भी ठीक है, परन्तु नय का यह लक्षण भी हो सकता है—

'वस्तु-तत्त्व में ज्ञाता का अभिप्राय-विशेष नय कहा जाता है। —२

१— नीयते परिच्छिद्यते अनेन इति नयः।" —नय-रहस्य

२— ज्ञातुरभिप्रायो नयः। —आलाप-पद्धति

की विशेष रुचि देखकर मुझे भी कुछ कहने का उत्साह उत्पन्न हुआ है। व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'नय' शब्द कैसे बना है? और उसके कितने अर्थ होते हैं? इस पर मैं अपने विचार व्यक्त कर रहा हूँ।"

नय—

'नय' शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से कृदन्त का 'अन्' प्रत्यय लगने पर सिद्ध होता है। 'नय' शब्द के मुख्य रूप से इतने अर्थ होते हैं—नीति, गति, विधि और मार्ग आदि।

नीति—

जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को विकास की ओर ले जाए, अभ्युदय की ओर अग्रसर करे, वह नय या नीति कही जाती है। नीति दो प्रकार की होती है—राज-नीति और धर्म-नीति। राजनीति का अन्तर्भाव साम, दाम, दण्ड और भेद मे हो जाता है। धर्म-नीति का अन्तर्भाव सात नयो मे होता है।

गति—

स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। सामान्य से विशेष की ओर जाना। साधक से सिद्ध की ओर जाना। देह से विदेह की ओर जाना।

विधि—

प्रकार या तरीका। सिद्धान्त और सिद्धान्ताभास परखने की पद्धति।

मार्ग—

विचार करने के प्रकार दृष्टि-कोण। जैसे—उद्यान में जाने के अनेक मार्ग होते हैं कोई पूर्व से जाता है कोई उत्तर से कोई पश्चिम से और कोई दक्षिण से। किन्तु अन्दर जाकर वे सब मार्ग परस्पर मिल जाते हैं इसी प्रकार एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टि-कोण हो सकते हैं। परन्तु उनका समन्वय भी हो जाता है। इस समन्वय सिद्धान्त को स्याद्वाद अथवा कथंचिद्वाद कहते हैं। समन्वय-मार्ग को नय-मार्ग भी कहा जाता है।

स्याद्वाद एवं नय-वाद से ही विभिन्न मतों का विभिन्न विचारों का समन्वय किया जा सकता है। जो नय एक-दूसरे के पूरक हैं सहयोगी हैं वे स्वपरोपकारी सुनय कहे जाते हैं और जो परस्पर एक-दूसरे का विरोध करते हैं, वे प्रतिद्वन्द्वी हैं वे स्वपर-प्रणाशी दुर्नय कहे जाते हैं। १

१—य एव नित्य-क्षणिकादयो नया
मिथोऽनपेक्षा स्व-पर-प्रणाशिन।
त एव तत्त्व विमलस्य ते मुने
परस्परेक्षा स्व परोपकारिण॥
—आचार्य समन्तभद्र स्वयम्भू-स्तोत्र।

तृतीय छात्र

तीसरा छात्र बोला—आपके कथन से मेरा कोई विरोध नही है, फिर भी मेरे विचार मे नय का स्वरूप यह है—

"नाना स्वभावो से अलग कर, किसी एक स्वभाव में वस्तु का निश्चय करना, यह नय है।"—१

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने नय-स्वरूप पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा—

"जो वस्तु प्रमाण से, सर्वाङ्गीण रूप से व्यवस्थित हो, उसके अनेक धर्मो मे से किसी एक धर्म का बोध करना, नय है।"–२

पचम छात्र

पांचवे छात्र ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा— मेरे विचार से नय का लक्षण यह है—

"पर्यायो के अनेक भेद हैं, एक वस्तु के भी अनन्त-पर्याय होते हैं, उनमे से किसी एक विवक्षित पर्याय को जानना, यह नय है।"—३

१—"नाना-स्वभावेभ्यो व्यावृत्य, एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति, इति नय ।"   —विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति ।

२—"प्रमाणेन सगृहीतार्थैकाशो नय ।"   —नय प्रदीप

३—"बहुधा वस्तुन पर्यायाणा सम्भवात् विवक्षित-पर्यायेण नयनमधिगमनम्, असौ नय ।"

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने भी विनय के साथ अपना विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा—

'वस्तु अनन्त-धर्मात्मक होती है। वस्तु-गत उन अनन्त-धर्मों में से किसी भी एक धर्म—नित्यत्व या अनित्यत्व—का अवधारण करना नय है। —१

सप्तम छात्र

सातवें छात्र ने भी अपनी बुद्धि के अनुसार नय का लक्षण करते हुए कहा—

श्रुत-ज्ञान के बिना मति आदि चारों ज्ञानों में नय का अभाव हो है,—श्रुत-ज्ञान में ही नयों का समवतार हो सकता है इतर में नहीं—अतः श्रुत का विकल्प नय है। —२

इस प्रकार सातों छात्रों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार नय का अर्थ बतलाया। अध्यापक ने अपने सभी छात्रों की नय सम्बन्धी व्याख्या को बड़े ध्यान से सुना। अध्यापक गम्भीर विचार में डूब गया। कुछ क्षणों के बाद अपने छात्रों की ओर स्नेह भरी दृष्टि से देखते हुए अध्यापक बोला—

अध्यापक

'मेरे प्रिय छात्रो! मैं तुम्हारी ज्ञान-साधना और ज्ञान चर्चा से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। नय के सम्बन्ध में तुम लोगों

१— 'अनन्त-धर्मात्मकस्य वस्तुनो यदैकेन नित्यत्वादिना अनित्यत्वादिना वा धर्मेण सावधारणं नयनं प्ररूपणमसौ नय।
—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

२— श्रुत-विकल्पो नयः।

की विशेष रुचि देखकर मुझे भी कुछ कहने का उत्साह उत्पन्न हुआ है। व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'नय' शब्द कैसे बना है? और उसके कितने अर्थ होते हैं? इस पर मैं अपने विचार व्यक्त कर रहा हूँ।"

नय—

'नय' शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से कृदन्त का 'अच्' प्रत्यय लगने पर सिद्ध होता है। 'नय' शब्द के मुख्य रूप से इतने अर्थ होते है—नीति, गति, विधि और मार्ग आदि।

नीति—

जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को विकास की ओर ले जाए, अभ्युदय की ओर अग्रसर करे, वह नय या नीति कही जाती है। नीति दो प्रकार की होती है—राज-नीति और धर्म-नीति। राजनीति का अन्तर्भाव साम, दाम, दण्ड और भेद मे हो जाता है। धर्म-नीति का अन्तर्भाव सात नयो मे होता है।

गति—

स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। सामान्य से विशेष की ओर जाना। साधक से सिद्ध की ओर जाना। देह से विदेह की ओर जाना।

विधि—

प्रकार या तरीका। सिद्धान्त और सिद्धान्ताभास परखने की पद्धति।

मार्ग—

विचार करने के प्रकार दृष्टि-मार्ग। जैसे—उद्यान में जाने के अनेक मार्ग होते हैं कोई पूर्व से आता है कोई उत्तर से कोई पश्चिम से और कोई दक्षिण से। किन्तु अन्दर जाकर वे सब मार्ग परस्पर मिल जाते हैं इसी प्रकार एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टि-कोण हो सकते हैं। परन्तु उनका समन्वय भी हो जाता है। इस समन्वय सिद्धान्त को स्याद्वाद अथवा कथंचिद्वाद कहते हैं। समन्वय-मार्ग को नय-मार्ग भी कहा जाता है।

स्याद्वाद एवं नय-वाद से ही विभिन्न मतों का विभिन्न विचारों का समन्वय किया जा सकता है। जो नय एक-दूसरे के पूरक हैं सहयोगी हैं वे स्वपरोपकारी सुनय कहे जाते हैं और जो परस्पर एक-दूसरे का विरोध करते हैं वे प्रतिद्वन्द्वी हैं वे स्वपर-प्रणाशी दुर्नय कहे जाते हैं। १

१—य एव नित्य-क्षणिकादयो नया
मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुने
परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः॥
—आचार्य समन्तभद्र स्वयम्भू-स्तोत्र।

जीवन की आचार-शुद्धि है,
निर्भर सदा विचार-शुद्धि पर।
विचार-शुद्धि की गति भी,
आधारित है नय की मति पर॥

— उपाध्याय अमर मुनि

प्रमाण और नय

प्रमाण-नयैरधिगमः

— तत्त्वार्थ सूत्र, १-६

अनेकान्तात्मक वस्तु, गोचरः सर्व-सविदाम् ।
एकदेश-विशिष्टोऽर्थो, नयस्य विषयो मतः ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

"अनेक-धर्मों से विशिष्ट वस्तु, प्रमाण-स्वरूप ज्ञान का विषय है, और किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु, नय का विषय माना जाता है।"

: ३ :

प्रमाण और नय

प्रश्न—क्या प्रमाण और नय परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, अथवा सर्वथा अभिन्न हैं ?

(अ) यदि सर्वथा अभिन्न हैं तो प्रमाण कौन-से ज्ञान का विषय है, और नय कौन-से ज्ञान का ?

(ब) यदि सर्वथा अभिन्न हैं तो प्रमाण से ही कार्य-सिद्धि हो सकती है नय की आवश्यकता ही क्या ?

(स) यदि दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं, तो प्रमाण—प्रत्यक्ष अनुमान आगम तथा उपमान—चार प्रकार का होता है। और नय सात प्रकार का होता है। फिर दोनों एक-दूसरे के पर्याय-वाचक कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्न की समस्या का समुचित समाधान स्याद्वाद के द्वारा हो सकता है। अर्थात्—सप्त-भंगी के तीसरे भंग से उक्त समस्या सुलझाई जा सकती है। तीसरा भंग है—कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न। जैसे कि गाथा-

प्रशाखाएँ वृक्ष से भिन्न भी है, और अभिन्न भी। अर्थात्–शाखाओ को वृक्ष नही कह सकते, और न अवृक्ष , अर्थात्—वृक्ष-भिन्न भी नही कह सकते।

प्रमाण यदि अग है, तो नय उपाग है। प्रमाण यदि समुद्र है, तो नय तरग-निकर। प्रमाण यदि सूर्य है, तो नय रश्मि-जाल। प्रमाण यदि वृक्ष है, तो नय शाखा-समूह। प्रमाण यदि हाथ है, तो नय अगुली । प्रमाण यदि जुलाहे का ताना है, तो नय बाना। प्रमाण यदि व्यापक है, तो नय व्याप्य है। प्रमाण नय मे समाविष्ट नही है, बल्कि नय ही प्रमाण मे समाविष्ट है। प्रमाण का सम्बन्ध पांच प्रकार के ज्ञान से है, जब कि नय का सम्बन्ध केवल श्रुत-ज्ञान से ही है—अन्य से नही। अर्थात्—पाँचो ज्ञानो को प्रमाण कहते हैं, और नय, श्रुत-ज्ञान रूप प्रमाण का अश-विशेप है।

अत नय, प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नही है। अभिन्न भी नही है, क्योकि प्रमाण का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया जाए , अर्थात्—सर्वांश-ग्राही बाध को प्रमाण कहते हैं।

नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त-धर्मों मे से किसी विवक्षित एक धर्म का निश्चय किया जाए, अर्थात्–अनेक दृष्टि-कोण से परिष्कृत वस्तु-तत्त्व के एकाश-ग्राही ज्ञान को नय कहते हैं ।

अत नय, प्रमाण से सर्वथा अभिन्न भी नही है।

प्रमाण नय का वाचक नही है, तथैव नय भी प्रमाण का वाचक नही है। जैसे समुद्र के पर्याय-वाचक नाम और

है, तथा तरंगों के पर्याय-वाचक नाम और हैं। तरंग समुद्र से भिन्न नहीं हैं और समुद्र भी तरंगों से भिन्न नहीं है, तथैव अभिन्न भी नहीं कह सकते। क्योंकि समुद्र के तथा तरंगों के नाम भिन्न-भिन्न हैं इससे सिद्ध होता है कि समुद्र और तरंगें अभिन्न नहीं हैं।

समुद्र और तरंग के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है, कि प्रमाण और 'नय' का परस्पर क्या सम्बन्ध है? नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण अपितु प्रमाण का एक अंश है जैसे कि तरंग न समुद्र है न असमुद्र है अपितु समुद्र का एक अंश है।—१

१—न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।
नाप्रमाणं प्रमाणं वा प्रमाणांशस्तथा नयः॥ १॥
— नयोपदेश

प्रमाण

वस्तु-तत्त्व का रूप सर्वत
जिससे होता है परिलक्षित।
वह प्रमाण है ज्ञान सिन्धु-सम,
दर्शन-जग मे सदा समर्चित ॥

नय

वस्तु-तत्त्व यदि एक अश से,
होता चिन्तन मे प्रतिभासित।
वह चिति-अश नीति-पथ नय है,
जिन-शासन मे परस्परेक्षित।

— उपाध्याय अमर मुनि

पर्याय-स्वरूप

वस्तु-मात्र में सतत यथाक्रम,
जो होता है परिवर्तन ।
कहते हैं पर्याय उसी को,
वस्तु-तत्त्व मर्मज्ञ सुज्ञ जन ॥

— उपाध्याय अमर मुनि

तद्भावः परिणामः

— तत्त्वार्थ, ५-४१,

उसका होना, अर्थात्—स्वरूप मे स्थित रहकर, उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है, अर्थात्—पर्याय है।

४

पर्याय-स्वरूप

प्रश्न—एक ही वस्तु अनन्त-धर्मात्मक कैसे हो सकती है ?

उत्तर—अनन्त-पर्यायों के समुदाय का नाम ही वस्तु है। पर्याय को धर्म भी कहते हैं। पर्याय दो प्रकार की होती है—एक सह-भावी और दूसरी क्रम भावी।

रूप रस आदि पर्याय सह भावी कहलाती है और नूतन पुरातन आदि पर्याय क्रम-भावी कहलाती है। सह भावी पर्याय गुणों की होती है तथा क्रम भावी पर्याय द्रव्य की होती हैं। अथवा—

पर्याय दो प्रकार की होती है—एक स्वभाव-पर्याय और दूसरी विभाव पर्याय। अथवा—

समस्त पदार्थों की पर्याय दो प्रकार की होती है—पहली शब्द-पर्याय और दूसरी अर्थ-पर्याय।

शब्द-पर्याय अनन्त हैं उनका अन्तर्भाव केवल श्रुत ज्ञान में ही हो सकता है—अन्य में नहीं।

अर्थ-पर्याय अनन्तानन्त हैं, क्योकि अर्थ-पर्याय का अन्तर्भाव पाँचो ही ज्ञान मे हो जाता है। इस दृष्टि से शब्द-पर्याय की अपेक्षा से अर्थ-पर्याय अनन्त-गुण अधिक हैं। शब्द-पर्याय के आगे चलकर दो भेद हो जाते है, जैसे—कि स्व-पर्याय और पर-पर्याय। शत-क्रतु, इन्द्र, पाक-शासन, ये स्व-पर्याय हैं। सौधर्माधिपति, शचि-पति ये पर-पर्याय हैं। जल, वारि, तोय, पानीय–ये स्व-पर्याय हैं। स्वर्ण घट का पानी, घडे का पानी, झज्झर का पानी-ये-सब पर-पर्याय हैं। आगे चलकर फिर अतीत, वर्त्तमान, और भविष्यत्, एक-एक पर्याय के साथ लगाने से पुन एक-एक के तीन भेद बन जाते हैं। इस प्रकार शब्द-पर्याय की उत्तरोत्तर अनन्त पर्याय बन जाती हैं।

अथ-पर्याय को भी उपर्युक्त शैली से समझ लेना। अत कहा जाता है कि वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। किसी विवक्षित एक पर्याय को अनेक दृष्टि-कोणो से जो देखा जाए, और जाना जाए, उसे ही नय कहते हैं।

स्याद्वाद

आदीपमाव्योम् सम-स्वभावं,
स्याद्वाद-मुद्रानतिभेदि वस्तु ।

— आचार्य हेमचन्द्र

सर्वमस्ति स्वरूपेण,
पर-रूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्व-सत्त्वं स्यात्,
स्वरूपस्याप्यसम्भव ॥

— प्रमाण-मीमांसा

"प्रत्येक वस्तु, स्वरूप से विद्यमान है, और पर-स्वरूप से अविद्यमान है। यदि वस्तु को पर-स्वरूप से भी भावरूप स्वीकार किया जाए, तो एक वस्तु के सद्भाव में सम्पूर्ण वस्तुओं का सद्भाव माना जाना चाहिए, और यदि वस्तु को स्वरूप से भी अभाव रूप माना जाए, तो वस्तु को सर्वथा स्वभाव-रहित मानना चाहिए, जो कि वस्तु-स्वरूप से सर्वथा विपरीत है।'

५

स्याद्वाद

जैन-दर्शन की चिन्तन धारा में स्याद्वाद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह वह सर्वमान्य सिद्धान्त है जिसके द्वारा विश्व-शान्ति स्थापित की जा सकती है। धार्मिक अन्ध-विश्वास तथा रूढ़िवाद की थोथी झक-झक को स्याद्वाद ही दूर कर सकता है। स्याद्वाद का उपयोग दर्शन और दैनिक-व्यवहार दोनों में किया जा सकता है। वस्तु-परीक्षण के इस उदार एवं विशाल सिद्धान्त को यदि व्यावहारिक जीवन का अनिवार्य अंग बना लिया जाए, और मन-वचन-कर्म की एक रूपता के नैतिक पथ पर प्रतिष्ठित कर लिया जाए तो निश्चय ही हम एक दिन विषम संघर्ष-मूलक परिस्थितियों के प्रतिगामी प्रतिबन्ध को तोड़कर अमर-सत्य प्राप्त कर सकेंगे।

स्याद्वाद जैन-दर्शन की अद्वितीय आधार-शिला है। जैन-दर्शन का भव्य भवन इसी पर निर्मित है। इसी के आधार पर जैनों ने विश्व को शान्ति का शुभ सन्देश सुनाया था। धार्मिक असहिष्णुता और मानसिक संकीर्णता जैसे अमानवीय विघातक मानसिक विकारों का समूल उन्मूलन करने

वाला स्याद्वाद ही है । परस्पर-स्नेह एव सद्भाव से रहने का सुन्दर पाठ मानव-समाज को स्याद्वाद ने ही पढ़ाया है। अपनी विशिष्टता स्थापित करने के निमित्त स्याद्वाद किसी भी धर्म या सिद्धान्त का खण्डन नही करता, किन्तु अपने औचित्य के अनुरूप भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोरण का समन्वय एव एकीकरण करता है ।

अस्तु, स्याद्वाद क्या है ? उसकी मौलिक परिभाषा क्या है ? उसकी उपयोगिता जीवन-व्यापार के लिए किस रूप मे है ? इन सभी प्रश्नो पर हमें यहां सक्षेप मे विचार करना होगा ।

परिभाषा—

स्याद्वाद का अर्थ है, विभिन्न दृष्टि-कोणो का विना किसी पक्ष-पात के तटस्थ-बुद्धि से समन्वय करना । जो महत्त्वपूर्ण कार्य एक न्यायाधीश का होता है, ठीक वही कार्य विभिन्न विचारों के समन्वय के लिए स्याद्वाद का है । जिस प्रकार एक जज, वादी और प्रतिवादी दोनो पक्षो के बयान सुनकर, दोनों के बयानो की जाँच-पडताल करके निष्पक्ष फैसला देता है, उसी प्रकार स्याद्वाद भी दो विभिन्न विचारो को सुनकर उनमे समन्वय कराता है । यह तो हुआ स्याद्वाद का मौलिक अर्थ । अब शाब्दिक अर्थ भी सुन लीजिए ।

"स्याद्वाद' इसमे दो शब्दो का सयुक्तीकरण है—'स्यात्' और 'वाद' । 'स्यात्' का अर्थ है—अपेक्षा या दृष्टि-कोण , और 'वाद' का अर्थ है—सिद्धान्त या मन्तव्य । दोनो

अपेक्षा का समुचित अर्थ होगा 'सापेक्ष सिद्धान्त', अर्थात्–वह सिद्धान्त जो अपेक्षा को लेकर चलता है और भिन्न-भिन्न विचारों का एकीकरण करता है। अनेकान्तवाद अपेक्षावाद कथंचिद्वाद और स्याद्वाद इन सब का एक ही अर्थ है। अनेकान्त और स्याद्वाद में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य है। और वह अन्तर केवल इतना ही है कि—अनेकान्त एक व्यापक विचार-पद्धति है और स्याद्वाद उस को अभिव्यक्त करने की एक निर्दोष भाषा-पद्धति है।

स्याद्वाद रहस्यविद् आचार्यों ने स्याद्वाद की परिभाषा इन शब्दों में की है—'अपने अथवा दूसरे के विचारों मन्तव्यों वचनों तथा कार्यों में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टि-कोण का ध्यान रखना ही स्याद्वाद' है। इस परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

"जिस प्रकार ग्वालिन मथन करने की रस्सी के दो छोरों में से कभी एक को और कभी दूसरे को खींचती है उसी प्रकार अनेकान्त-पद्धति भी कभी वस्तु के एक धर्म को मुख्यता देती है और कभी दूसरे धर्म को। —१

देखिए आचार्य ने किस भावमयी एवं कवित्वमयी भाषा में स्याद्वाद की परिभाषा की है? सुनकर हृदय गद्‌गद् हो जाता है और पाठक आचार्य के स्वर से स्वर मिलाकर उल्लास-पूर्ण स्वर में उद्‌घोष करता है —

१— 'एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु-तत्त्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी।
[illegible]

"जयति जैनी नीति' अर्थात्—'जिन-भगवान्' द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त-नीति अर्थात्—स्याद्वाद-सिद्धान्त सदा जयवन्त हो।"

स्याद्वाद की दार्शनिक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है–

"प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मक-वस्तु-प्रतिपादक श्रुत-स्कन्धात्मक स्याद्वाद"—१

उपयोगिता—

वस्तु के वास्तविक तथा व्यावहारिक स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वाद का उपयोग परमावश्यक है। स्याद्वाद के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक निर्णय नही हो सकता। यदि हम किसी वस्तु के एक ही धर्म को पकड लें, और अन्य धर्मों की ओर ध्यान न दे, तो हम निश्चय ही लोक-व्यवहार में असफल रहेगे।

मान लीजिए—हम अपने पिता को पिता कहते हैं, क्योकि वह हमारा जनक है। इसमे हम कोई भूल नही करते। पर, क्या हमारा पिता सम्पूर्ण ससार का पिता हो सकता है ? कहना होगा, नही। क्योकि हमारा पिता तो हमारी अपनी अपेक्षा ही से पिता है, किसी दूसरे की अपेक्षा से नही। हमारी व्यक्तिगत अपेक्षा के अतिरिक्त किसी दूसरे की अपेक्षा से वह मामा भी है, किसी तीसरे की अपेक्षा से वह भाई तथा पुत्र भी हो सकता है। फिर हम यह कैसे कह

१—अष्ट-सहस्री।

सकते हैं, कि— 'यह व्यक्ति पिता ही है।" ऐसा कहना और मानना भारी भूल है। अस्तु, यही एकान्त-वाद है जिससे संसार में कलह और वैमनस्य का प्रसार होता है। यदि हम 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करना सीख लें तो कलह एवं वैमनस्य की आशंका ही न रहे। 'भी' का प्रयोग करते हुए हम कहेंगे कि— 'यह 'पिता' भी है। यही अपेक्षा-वाद है इसी को हम अनेकान्त-वाद कहते हैं।

इस सम्बन्ध में अनेक स्याद्वाद-विद् विद्वानों का ऐसा कथन है कि मानव-जीवन को सफल एवं शान्तिमय बनाने के लिए जीवन में स्याद्वाद का उपयोग करना आवश्यक तथा अनिवार्य है। वैयक्तिक कौटुम्बिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय अशान्ति का मूल कारण 'ही' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस आग्रह और अपनेपन के भाव को मन-मस्तिष्क में स्थान न देना ही स्याद्वाद है। यदि मानव-समाज आज स्याद्वाद की व्यापक एवं उदार-दृष्टि से विचार करना सीख जाए, तो निश्चय ही हम अपने जीवन को सरस सुन्दर तथा उदात्त बना सकते हैं।

केवल विचारों की विशद व्याख्याओं और ग्रन्थों के अध्यायों में लिखे सिद्धान्तों के शाब्दिक उच्चार से संसार का या मानव-जीवन का कल्याण नहीं हो सकता। मान लीजिए—आपको भूख लगी तो क्या भोजन का नाम रटने मात्र से क्षुधा शान्त हो जाएगी? नहीं हमें तदनुकूल अन्य उपाय भी प्रयोग में लाने होंगे। सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन के होने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती जब तक कि —

ा कथित ज्ञान और दर्शन के अनुरूप आचरण-नही करेगे ।

रत्न-त्रयात्मक मुक्ति-मार्ग का यही आशय है, कि यथार्थ वारो का जीवन-व्यापार मे व्यावहारिक रूप देकर उनका ावसर यथोचित उपयोग किया जाए । इसी प्रकार यदि ाद्वाद को क्रियात्मक रूप में अपना ल, तो गच्छ-वाद एव प्रदाय-वाद जैसी सकीर्णताओ का नाम भी न रहे, और ा सब एक-तन और एक-मन होकर विश्व बन्धुत्व का ल अभिनय कर सकते हैं ।

सप्त भङ्गी

एकस्मिन वस्तुनि अविरोधेन,
विधि-प्रतिषेध कल्पना सप्त-भङ्गी ।

— सप्त भङ्गी-तरंगिणी

अन्नोऽण्णपर-सावेक्खा णय-विसय अह पमाण-विसय वा।
त सावेक्ख तत्त णिरवेक्ख ताण विवरीय ॥

— नय-चक्र

"वस्तु-गत धर्म भले ही नय-विषयक हो, भले ही प्रमाण-विषयक हो, परन्तु वे परस्पर सापेक्ष ही होते है। सापेक्षता तत्त्व है, और निरपेक्षता अतत्त्व।"

: ९ :

सप्त भङ्गी

जैन-दर्शन में जितना महत्त्व स्याद्वाद का माना गया है और बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैसा उपयोग स्याद्वाद का किया जाता है उतना ही महत्त्व और उपयोग सप्त भङ्गी का भी माना गया है। सप्त भङ्गी' एक वह महान् सिद्धान्त है जो वस्तु के धर्म पर अवलम्बित रहता है। सप्त-भङ्गी-वाद नय-वाद और प्रमाण-वाद ये सब स्याद्वाद रूपी दुर्ग के संरक्षक हैं। स्याद्वाद रूपी दुर्ग पर अधिकार करने के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि अधिकार की कामना करने वाला सर्व प्रथम इन तीन प्रवेश-द्वारों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले।

अस्तु, किसी प्रश्न के उत्तर में या तो हम हाँ' बोलते हैं, या 'नहीं'। इसी 'हाँ' और नहीं' के औचित्य को लेकर सप्त-भङ्गी-वाद की रचना हुई है। सप्त-भङ्गी का सामान्य अर्थ है—वचन के सात प्रकारों का एक समुदाय। किसी भी

नहीं है अपितु वस्तु के धर्म-विशेष पर आश्रित है। इसलिए सप्त भङ्गी का अध्ययन मनन और चिन्तन करते समय इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि उसमें प्रत्येक भङ्ग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सम्बद्ध हो। यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना आवश्यक हो तो उसे इस प्रकार दिखलाना चाहिए जिससे कि उस धर्मों का स्थान उस वस्तु में से विलुप्त न हो जाए।

मान लीजिए आप घट में नित्यत्व का स्वरूप दिखलाना चाहते हैं तो आपको घट में नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसा उपयुक्त शब्द प्रयोग करना होगा जो घट में रहने वाले नित्यत्व धर्म का बोध तो कराए किन्तु अन्य अनित्यत्व आदि धर्मों का विरोध न करे। यह काम सप्त भङ्गी के द्वारा ही हो सकता है।

यथा—स्याद् नित्य एव घट अथवा 'स्याद् अनित्य एव घट' अर्थात्—घट नित्य भी है और अनित्य भी। द्रव्य-दृष्टि से नित्य है और पर्याय-दृष्टि से अनित्य।

अस्तु अब इसी उदाहरणीभूत घट पर सप्त भङ्गों की वचन प्रयोग शैली इस प्रकार होगी।

१—स्याद् नित्य एव घट
२—स्याद् अनित्य एव घट
३—स्याद् नित्यानित्य एव घट
४—स्याद् अवक्तव्य एव घट
५—स्याद् नित्य अवक्तव्य एव घट

नहीं हैं अपितु वस्तु के धर्म-विशेष पर आश्रित है। इसलिए सप्त भङ्गी का अध्ययन मनन और चिन्तन करते समय इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि उसके प्रत्येक भङ्ग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सम्बद्ध हो। यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना आवश्यक हो तो उसे इस प्रकार दिखलाना चाहिए जिससे कि उस धर्मों का स्थान उस वस्तु में से विलुप्त न हो जाए।

मान लीजिए आप घट में नित्यत्व का स्वरूप दिखलाना चाहते हैं तो आपको घट के नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसा उपयुक्त शब्द प्रयोग करना होगा जो घट में रहने वाले नित्यत्व धर्म का बोध तो कराए किन्तु अन्य अनित्यत्व आदि धर्मों का विरोध न करे। यह कार्य सप्त भङ्गी के द्वारा ही हो सकता है।

यथा—स्याद् नित्य एव घट अथवा 'स्याद् अनित्य एव घट' अर्थात्—घट नित्य भी है और अनित्य' भी। द्रव्य-दृष्टि से नित्य है और पर्याय-दृष्टि से अनित्य।

अस्तु अब इसी उदाहरणभूत घट पर सप्त भङ्गों की वचन प्रयोग शैली इस प्रकार होगी।

१—स्याद् नित्य एव घट

२—स्याद् अनित्य एव घट

३—स्याद् नित्यानित्य एव घट

४—स्याद् अवक्तव्य एव घट

५—स्याद् नित्य अवक्तव्य एव घट

६—स्याद् अनित्य अवक्तव्य एव घट,

७—स्याद् नित्य अनित्य अवक्तव्य एव घट,

किसी भी पदार्थ के विषय मे उपर्युक्त सात प्रकार से ही प्रश्न हो सकते हैं, अत आठवां, नवा या दशवां भग नहीं वन सकता। इसीलिए "सप्त-भगी" मे सप्त-पद विल्कुल सार्थक एव अवधारणात्मक है। अर्थात्—सात ही भग हैं, कम या अधिक नही। उक्त सात वचन प्रयोगो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१—घट द्रव्य अपेक्षा से नित्य है।

२—घट पर्याय अपेक्षा से अनित्य है।

३—घट क्रम विवक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी।

४—घट अवक्तव्य है, अर्थात् युगपद्-विवक्षा से अवक्तव्य भी है। उपर्युक्त चार वचन प्रयोगो पर से पिछले तीन वचन और वनाये जाते हैं।

५—द्रव्य अपेक्षा से घट 'नित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

६—पर्याय अपेक्षा से घट 'अनित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

७—द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से घट क्रमश 'नित्य' और 'अनित्य' होने के साथ-साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है। पिछले तीन वचन-प्रयोग, अवक्तव्य रूप चतुर्थ अग के साथ पहला, दूसरा और तीसरा मिलाने से वनते हैं। अत वास्तव मे मुख्य-रूप से तीन या चार ही भग हैं।

वस्तुतः शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के भावों पर आधारित होती है। अर्थात्— प्रत्येक वस्तु में अनेक (अनन्त) धर्म होते हैं विभिन्न वक्ता अपने-अपने दृष्टिकोण से उनका उल्लेख करते हैं।

मान लीजिए, दो मनुष्य हैं। दोनों बाजार में कुछ सौदा खरीदने गए हैं। किसी दुकान पर दोनों पहुँचे और उन्होंने अनेक वस्तुएँ देखी। अपनी पसन्द के अनुसार एक किसी वस्तु को अच्छी बतला रहा है और दूसरा उसी को बुरी बतला रहा है। दोनों में विवाद खड़ा हो जाता है। इधर से कोई तटस्थ पथिक भी चला आ रहा है। उसने दोनों को झगड़ते देखा और पूछा— क्यों भाई तुम परस्पर क्यों झगड़ रहे हो? दोनों अपनी-अपनी बात कह देते हैं। समझदार पथिक दोनों की बात सुनकर उनको समझाता है कि देखो—विवादास्पद वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। जो वस्तु तुम्हारी दृष्टि में अच्छी है वह इसकी दृष्टि में बुरी हो सकती है और इसकी दृष्टि में जो बुरी है वह तुम्हारी दृष्टि में अच्छी हो सकती है। यह तो अपनी-अपनी दृष्टि है। अपना-अपना विचार है। इसमें लड़ने और झगड़ने जैसी तो कोई चीज नहीं है।

देखिए, तीनों व्यक्ति अपनी-अपनी विचार-दृष्टि के अनुसार तीन तरह का वचन प्रयोग करते हैं। पहला विधि सम्बन्धी दूसरा निषेध-सम्बन्धी और तीसरा उभयात्मक अर्थात्—विधि और निषेध दोनों से सम्बन्धित। अस्तु, जब हम किसी वस्तु को अच्छी कहते हैं तो इसका यही तात्पर्य

है कि वह वस्तु हमारी दृष्टि में सुन्दर है, किन्तु दूसरे की दृष्टि में वह बुरी या असुन्दर भी हो सकती है।

सप्त-भंगी के विषय में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है, और वह है—भंगों के क्रम में मत-भेद का उत्पन्न होना। कुछ ग्रन्थकार 'अवक्तव्य' को तीसरा, और 'नित्यानित्य' को चतुर्थ भंग के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु अन्य आचार्य 'नित्यानित्य' को तीसरे और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भंग के रूप में स्वीकार करते हैं। इस क्रम-भेद में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्य सम्मिलित हैं। यद्यपि दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस प्रकार अपने-अपने ग्रंथों में भिन्न-भिन्न विकल्प क्रम को स्थान दिया है, परन्तु इस क्रम-भेद में वस्तु-स्थिति में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं दिखलाई देता।

सप्त-भंगी का सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ है, और पारस्परिक कलह को दूर करने वाला समस्त वस्तु-स्वरूप का परिचायक शान्त-प्रयोग है। यदि इस सिद्धान्त को हम अपने दैनिक व्यवहार में अपना लें, तो निश्चय ही हमारी साम्प्रदायिक मोह-ममता दूर हो सकती है। जिस भाँति जैनों ने अहिंसा को सक्रिय रूप दे दिया है, उसी भाँति यदि हम 'स्याद्वाद' और 'सप्त-भंगी' को भी अपने जीवन-व्यवहार में सक्रिय रूप दे दें, तो हमारा समाज सुसगठित एवं सुदृढ हो सकता है। हम एक न हो सकेंगे, ऐसी कोई असम्भव बात नहीं है। हाँ, एकता के लिए अपनी-अपनी तथ्य-हीन मान्यताओं और निराधार धारणाओं का परित्याग अवश्य ही करना होगा।

अस्तु यदि हम जीवन के अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए, समाज के कल्याण के लिए तथा राष्ट्र के उत्थान के लिए जीवित रहना है और साथ ही यदि हम संसार में अपने धर्म-सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार भी करना चाहते हैं तो हम विभिन्न सम्प्रदायों की संकीर्ण मान्यताओं तथा रूढ़-परम्पराओं के एकान्त-मूलक अति रोचक प्रतिबन्धों को तोड़ने के लिए नैतिक-साहस का सहारा लेना होगा।

नैतिक साहस की उपलब्धि के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण विषय-संगत ही होगा कि नैतिक साहस कोई बाह्य एवं कृत्रिम उपाय नहीं अपितु सत्य के प्रति मन वचन और कर्म की सत्य-निष्ठ एकरूपता है। और यह अद्भुत एकरूपता तभी सम्भव है जब मानव का मन और मस्तिष्क समस्त संकीर्णताओं से मुक्त रह कर विशालता और व्यापकता को अंगीकार कर ले।

अतएव जब हमारा मन और मस्तिष्क अपेक्षित विशालता और व्यापकता के द्वारा नैतिक साहस को प्राप्त कर सकेगा तब हमारे अन्दर सहिष्णुता नामक अलौकिक सुमन का विकास सम्भव होगा जिससे संकीर्णता की दुर्गन्ध दूर होगी और अपने तथा पराये सत्य के पूर्ण-रूप के प्रति वात्सल्य स्नेह का उदय होगा।

सारांश में यह कथन पर्याप्त होगा कि मानव-जीवन में 'स्व-सत्यनिष्ठा' की भाँति 'पर-सत्यनिष्ठा' हो जाने पर ही—

'पर-मत' अथवा 'पर-धर्म' सम्बन्धी सहिष्णुता की उपलब्धि सम्भव है, और इस सम्भावना को साकार रूप मे प्रदर्शित करने के लिए अनेकान्त-वाद और सप्त-भगी-वाद को जीवन मे उतारना होगा ।

सप्त-भगी पर दृष्टान्त

एक थोक माल का खरीदार गाडी मे उतर कर, शहर की ओर जाते हुए मार्ग मे स्थित किसी परिचित सेठ से पूछता है कि क्या आपकी दुकान पर थोक माल है ?

१ **स्यादस्ति एव**—कथचित् है, सेठ ने जवाब दिया ।

फिर खरीदार पूछता है—क्या आपके पास विदेशी माल भी है ?

२ **स्यात् नास्ति एव**— कथचित् नही है, सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है—क्या स्व-देशी माल सब प्रकार का उपस्थित है ?

३ **स्यादस्ति नास्ति एव**—कथचित् है भी, और नही भी । सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है कि–किस-किस कम्पनी का माल आप के पास उपस्थित है, सक्षेप से मुझे एक ही वाक्य मे उत्तर दे ?

४ **स्यादवक्तव्यमेव**—कथचित् अवक्तव्य है, इस प्रकार सेठ ने सक्षेप मे ही उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है—क्या अमुक कम्पनी का माल है ? यदि है तो कौन-कौनसा माल है ? एक ही भंग से उत्तर दे ।

५ स्यादस्ति स्यादवक्तव्यमेव— कथंचित् है, और कथंचित् अवक्तव्य है अर्थात् माल तो है परन्तु कौन-कौन सा है यह कहा नहीं जा सकता सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर खरीदार पूछता है कि—क्या आपके यहाँ अमुक कम्पनी का माल है ? यदि नहीं है तो कृपया यह भी बताएँ कि किस किस कम्पनी का माल नहीं है ? एक ही वाक्य मे उत्तर दें ।

६ स्यात्नास्ति स्यादवक्तव्यमेव—कथंचित् नहीं है कथंचित् अवक्तव्य है अर्थात् जिस कम्पनी का नाम आप ले रहे हैं उसका माल मेरे पास स्टाक नहीं है । किस किस कम्पनी का माल मेरे पास नहीं है यह कहा नहीं जा सकता । सेठ ने उत्तर दिया ।

फिर वही आगन्तुक व्यापारी पूछता है कि क्या अमुक कम्पनी का बना हुआ माल सब प्रकार का है या नहीं ? यदि है, तो कौन-कौनसा माल है ? यदि नहीं है, तो कौन सा माल नहीं है ? इसका उत्तर एक ही वाक्य में दें ।

७ स्यादस्ति नास्ति स्यादवक्तव्यमेव—कथंचित् है और नहीं भी कथंचित् अवक्तव्य भी है अर्थात्—उस कम्पनी का माल बहुत कुछ उपस्थित है बहुत कुछ बिक चुका स्टाक रूप में नहीं है । उस कम्पनी का माल अब कौन सा है, और कौन-सा नहीं -यह कुछ कहा नहीं जा सकता । अतः यदि एक ही वाक्य में उत्तर देना हो,तो पूर्वोक्त सातवें भंग से ही दिया जा सकता है ।

सम्यग्-दर्शन पर सप्त-भंगी

१—स्याद्अस्तिएव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—
यह भंग चतुर्थ गुण स्थान से लेकर सप्तम गुण-स्थान तक तथा त्रयोदश इन चार गुण स्थानों में पाया जाता है।

२—स्यान्नास्तिएव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—
यह भंग पहले से तीसरे तक और ग्यारहवां, इन चार गुण-स्थानों मे पाया जाता है।

३—स्यादस्तिनास्तिएव क्षायिक सम्यग्दर्शनम्—
यह भंग सातवे से दसवे गुण-स्थान तक तथा बारहवे और चौदवे इन छह गुण- स्थानों मे पाया जाता है।

४—स्यादवक्तव्यमेव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—
पूर्वोक्त तीसरे भंग मे जो गुण-स्थानों का उल्लेख किया है, उनमें से वर्त्तमान काल में किस किस स्थान मे सम्यग्दर्शन का सद्भाव, और किस किस मे असद्भाव है, यह कहना एक समय मे अशक्य है।

५—स्यादस्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिकसम्यग्-दर्शनम्—यह भंग प्रथम और चतुर्थ भंग का सम्मिश्रण है।

६—स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिक सम्यग्दर्शनम्—यह भंग दूसरे और चतुर्थ भंग का सम्मिश्रण है।

७—स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिक सम्यग्-दर्शनम्—तीसरे और चतुर्थ भंग का सम्मिश्रण है।

नैगम नय

देश-समग्र ग्राही नैगम

— तत्त्वार्थ भाष्य, १—३५

नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम् ।
निर्विशेष न सामान्य, विशेषोऽपि न तद् विना ॥

— नय-कर्णिका

"नैगम-नय वस्तु को उभयात्मक, अर्थात् सामान्य-विशेष रूप मानता है। क्योंकि विशेष के विना सामान्य और सामान्य के विना विशेष, किसी भी तरह घटित नहीं हो सकते।"

: ७ :

नैगम-नय

अध्यापक ने अपना नय विषयक वक्तव्य संक्षेप में ही समाप्त करके सातों छात्रों को नैगम-नय का अर्थ और उसका संक्षिप्त विवेचन करने की आज्ञा प्रदान की। तदनन्तर छात्रों ने नैगम-नय का अर्थ करते हुए अपने अपने विचार प्रगट किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा— 'अनेक प्रकार के सामान्य एवं विशेष-ग्राहक ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया जाय उसे 'नैगम-नय' कहते हैं। —१

वैशेषिक दर्शन के अनुसार यदि सामान्य और विशेष का स्वरूप माना जाए, तो 'अविशुद्ध' नैगम नय के अन्तर्भूत हो सकता है क्योंकि वैशेषिक दर्शनकार ने सामान्य

१—णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरुत्ती।

— अनुयोगद्वार सूत्र टीका

और विशेष को भिन्न-भिन्न पदार्थ माना है, और तदनुसार उनके लक्षण भी भिन्न ही प्रतिपादित किए है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"लोकार्थ निबोध को निगम कहते हैं, उसमे जो कुशल हो उसे नैगम कहते है।"—१

'लोक' का आशय लौकिक से है। अर्थ का तात्पर्य है—जीवादि तत्त्व, अर्थात्—लौकिक दर्शनकारों ने जीवादि तत्त्व पर अपनी-अपनी मान्यतानुसार जो विचार धाराएँ व्यक्त की हैं, उसे निगम कहते है, उसी को सुव्यवस्थित तथा विशिष्ट-रूपेण बोध कराने वाले ज्ञान को 'नैगम-नय' कहते है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"जिसके द्वारा गमन किया जाए, उसे 'गम' कहते है। जिसके अनेक मार्ग हो, उसे 'नैक गम' कहते हैं। निरुक्त विधि मे 'नैक' शब्द का ककार लुप्त हो जाने पर 'नैगम' शब्द बनता है।—२

१—'लोगत्थ-निबोहा वा निगमा, तेसु कुसलोऽभवोऽयम्।'

— नय प्रदीप

२—"जे नेगगमो, अणेग पहो, णेगमो,- तेण गम्यतेऽनेनेति" गम = पन्था, न एक-गमा पन्थानो यस्यासौ नैकगम। निरुक्त-विधिना ककार-लोपात नैगम इति।"

— विशेपावश्यक भाष्यवृत्ति

इन्धे की लकड़ी के संकल्प से कहीं जाते हुए, यदि किसी को कोई पूछे कि आप कहाँ जा रहे हैं ? तब वह जवाब में कहता है कि मैं कुल्हाड़ी लेने जा रहा हूँ। वास्तव में तो वह कुल्हाड़ी के लिए इन्धे की लकड़ी लेने ही जा रहा है तब भी वह ऊपर जैसा ही जवाब देता है और पूछने वाला भी तत्काल उसके तात्पर्य को समझ लेता है। यह एक तरह की 'लोक-रूढ़ि' है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—'नैक गमइत्तीति निगमः निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगमः'—लोक-रूढ़ि के अनुसार जिसके अनेकों ही भाग हों उसे नैगम कहते हैं। मुख्यतया नैगम नय के तीन भेद हैं—१

(१) महासामान्य
(२) सामान्य
(३) विशेष।

पर-सत्ता को महासामान्य कहते हैं। अपर-सत्ता को सामान्य कहते हैं। और जो नित्य द्रव्यों में रहने वाले हैं तथा व्यावर्तक हैं वे विशेष कहलाते हैं। दूसरी शैली से भी इसके तीन भेद बनते हैं जैसे—(क) अविशुद्ध नैगम (ख) विशुद्धा-विशुद्ध नैगम और (ग) विशुद्ध नैगम।

१—नैक गमइत्तीति निगमः। निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगमः।
— अनुयोगद्वार सूत्र टीका

कथित तीनो भेदो को स्पष्टतया समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। जैसे—

कोई व्यक्ति चादर बनाने के लिए बाजार से रूई खरीद रहा है। वही पर किसी आगन्तुक ने पूछा, क्या ले रहा है? उसने उत्तर दिया चादर ले रहा हूँ। वही आगन्तुक व्यक्ति उस रूई को पीज भी रहा है। अत उससे पूछा गया—क्या बना रहा है? वह उत्तर देता है, मैं चादर बना रहा हूँ वही व्यक्ति तकली या चर्खे से सूत कात रहा है, किसी ने पूछा—क्या बना रहे हो? उसने उत्तर दिया—मैं चादर बना रहा हूँ। खड्डी मे ताना तानत हुए से पूछा, कि क्या बना रहा है? उत्तर दिया, मैं चादर बना रहा हूँ। अर्थात् चादर बनाने के दृढ सकल्प से लेकर रूई खरीदने तक 'अविशुद्ध नैगम' कहलाता है, और सूत कातना आदि क्रिया 'विशुद्धाविशुद्ध नैगम' कहलाता है, ताना तानते हुए उसने जो उत्तर दिया, वह 'विशुद्ध नैगम' है।

पचम छात्र

पाँचवे छात्र ने कहा—"जब अतीत काल मे वर्त्तमान का आरोप किया जाए, तब उसे भूत-नैगम कहते है। जैसे आज दीपावली को श्रीवर्द्धमान स्वामी का निर्वाण हुआ। आज अमुक तीर्थङ्कर को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।"

"जब भावि-काल मे भूत काल की तरह कथन किया जाता है, तब उसे भावि नैगम कहते हैं। जैसे कि भव-सिद्धिक जीव सिद्ध ही है, क्योकि भगवती सूत्र के अट्ठारहवे,

आगम में भगवान् महावीर स्वामी प्रतिपादन करते हैं कि—भव सिद्धिक जीव एक या अनेक चरम हैं। अत जो चरम हैं वे अर्हन् ही हैं और जो अर्हन् हैं वे सिद्ध ही हैं। अत सिद्धत्व परिणाम अचरम है। जब कारण को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है, तब कार्य पूरा होने में भले ही विलम्ब हो परन्तु वह कार्य पूर्ण ही कहा जाता है। इस प्रकार के नय को 'वर्तमान नैगम-नय' कहते हैं।

उदाहरण के लिए भृगु पुरोहित और उसके दोनों पुत्रों का संवाद ले लीजिए—

पुरोहित के दोनों पुत्रों ने दीक्षा का दृढ़ संकल्प तो कर लिया परन्तु अभी तक दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। फिर भी पुरोहित ने उन्हें मुनि कहा है।—१

इसी प्रकार दीक्षा लेने से पहले ही नमिराज को राजर्षि कहा है। ये उदाहरण 'वर्तमान नैगम-नय' के हैं।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—जो विचार लौकिक रूढ़ि अथवा लौकिक संस्कार के अनुसरण करने से पैदा होता है उसे

१—अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं
तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति
जहा न होइ असुयाण लोगो॥

— उत्तराध्ययन १४—८

नैगम कहते है, अर्थात्—लोक रूढियो से पडे हुए सस्कारो के कारण जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे सभी नैगम-नय के अन्तर्भुक्त हो जाते है। देश, काल एव लोक स्वभाव सम्वन्धी भेदो की विविधता के कारण लोक रूढियाँ तथा तज्जन्य सस्कार भी अनेक तरह के होते हैं। उसके उदाहरण विविध प्रकार के मिलते हैं।

सप्तम छात्र

सातवे छात्र ने कहा—जो नय एक गम, अर्थात्—एक विकल्प-रूप ही नही हो, किन्तु जो अनेक विकल्पो द्वारा अनेक मान, अनुमान और प्रमाण द्वारा वस्तु-स्वरूप को समझता हो, पदार्थ को सामान्य, विशेष तथा उभयात्मक मानता हो, तीनो काल की बात को स्वीकार करता हो, किसी वस्तु में अश-मात्र गुण होने पर भी उसे पूर्ण वस्तु मानता हो, चारो निक्षेपो को अङ्गीकार करता हो, वह ज्ञान नैगम-नय कहलाता है। अथवा—

किसी वस्तु मे किसी एक पर्याय के होने की योग्यता मात्र देखकर वर्त्तमान मे उस पर्याय के अभाव मे भी उस वस्तु को उस पर्याय-युक्त कहना, उसे नैगम-नय कहते है।

जैसे वर्त्तमान मे श्रेणिक की आत्मा को नारकीय होते हुए भी तीर्थङ्कर कहना, क्योकि यह नय, द्रव्य-तीर्थङ्कर को भी तीर्थङ्कर मानता है। द्रव्य-साधु को भी साधु मानता है।

इसके पश्चात् अध्यापक नय और नैगम का अर्थ वतलाते हुए इस प्रकार कहने लगा—

अध्यापक

किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला विचार 'नय' है —नयों का निरूपण अर्थात्—विचारों का वर्गीकरण। जैसे सूत्रकार शिष्य की सुगमता के लिए किसी महान् शास्त्र के रचना काल में अपने अभीष्ट विचारों का पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध इस प्रकार दो विभागों में विभक्त कर देते हैं। आगे चलकर प्रत्येक श्रुतस्कन्ध में भिन्न भिन्न विषय पर अध्ययन। प्रत्येक अध्ययन में भिन्न-भिन्न प्रकरण और प्रत्येक प्रकरण में एक ही विषय को स्पष्ट करने वाले भिन्न-भिन्न विचार। इसी प्रकार नय-शास्त्र में 'नय-वाद' का निरूपण है अर्थात्— विचारों की मीमांसा' ही 'नय-वाद' है।

इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि—जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं परन्तु वास्तव में जिनका विरोध नहीं है ऐसे विचारों के अविरोध के बीज की गवेषणा करना अर्थात्—परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले विचारों के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषणा करके वैसे विचारों का समन्वय करने वाला शास्त्र 'नय-वाद' कहलाता है। सात नयों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—(क) द्रव्यार्थिक और (ख) पर्यायार्थिक। वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला नय 'द्रव्यार्थिक' कहा जाता है और विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला नय 'पर्यायार्थिक' कहा जाता है।

सभी सामान्य और विशेप दृष्टियाँ भी एक-सी नही होती, उनमे भी अन्तर रहता है। इसी को बतलाने के लिए इन दो विचार दृष्टियो के पुन अनेक भाग किये गए हैं। जैसे कि द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—"नैगम, सग्रह, व्यवहार और पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। अब 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' का स्वरूप उदाहरण के द्वारा समझिए।

पहला उदाहरण—

जैसे किसी मनुष्य ने गाढ-तिमिर में स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा हस्त-गत वस्तु को जाना कि यह पुस्तक है। फिर उसका आकार-प्रकार और वजन भी जाना। फिर दूरवर्ती विजली के प्रकाश से टाईटल की खूवसूरती और कागज का रग, उसकी चमक, स्निग्धता तथा रूक्षता और मोटाई को भी जाना। 'द्रव्यार्थिक नय' का यह सक्षिप्त परिचय है।

अनन्तर उसकी भाषा भी जानी जा सकती है। रचयिता कौन है ? भापा-शैली कैसी है ? विषय क्या है ? छपाई कैसी है ? मूल्य क्या है ? कहाँ से मिलती है ? इसके अभी तक कितने सस्करण निकल चुके हैं ? कौन-से सन् मे छपी है ? किस प्रेस में छपी है ? भूमिका किस की लिखी हुई है ? पृष्ठ सख्या और ग्रन्थाग्र कितना है ? आदि अनेक प्रश्न हल किए जा सकते हैं, इसी को 'पर्यायार्थिक नय' कहते हैं।

दूसरा उदाहरण—

जैसे अवोध वालक किसी विशिष्ट चित्रगत सौन्दर्य को

या उसके आकार-प्रकार को महासामान्य रूप में ही जानता और देखता है। आठ वर्ष का बालक कुछ विशेष रूप से जानता है और देखता है। चित्र-कला से अनभिज्ञ सोलह वर्ष का बालक भी हो तब भी वह जो कुछ जानता और देखता है पहले की अपेक्षा से तो वह विशेष ही जानता है किन्तु है यह भी सामान्य की कोटि में ही। यहाँ तक 'द्रव्यार्थिक नय' का सम्बन्ध है।

विशिष्ट चित्रकार उसी चित्र को विशेष रूप से जानता है यही 'पर्यायार्थिक नय' है। जैसे विशेष दृष्टि वाला मनुष्य अनवद्ध सुवर्ण में भी नूपुर आदि अनन्त पर्यायों की कल्पना कर सकता है और कल्पित को भी जान सकता है इसी प्रकार उन अनन्त पर्यायों में से किसी भी एक में सामान्य दृष्टि द्वारा वही मनुष्य स्वर्णत्व को भी जान सकता है। द्रव्य दृष्टि में विशेष-पर्याय और पर्याय दृष्टि में द्रव्य सामान्य आता ही नहीं ऐसी बात नहीं है। यह दृष्टि विभाग तो केवल गौण और प्रधान भाव की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

नैगम-नय का आधार —लोक-रूढि है जो आरोप पर आश्रित है। और आरोप होता है—सामान्य-तत्वाश्रयी। ऐसा होने से 'नैगम-नय' सामान्य-ग्राही होता है।

नैगम-नय का विषय सबसे अधिक विशाल है क्योंकि वह सामान्य और विशेष दोनों का ही लोक-रूढि के अनुसार कभी तो गौण रूप से और कभी मुख्य रूप से अवलम्बन करता है।

जैसे—गुण और गुणी अवयव और अवयवी आदि और

सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक-सी नही होतीं, उनमे भी अन्तर रहता है। इसी को बतलाने के लिए इन दो विचार दृष्टियो के पुन अनेक भाग किये गए हैं। जैसे कि द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—"नैगम, सग्रह, व्यवहार और पर्यायार्थिक नय के चार भेद है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। अब 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' का स्वरूप उदाहरण के द्वारा समझिए।

पहला उदाहरण—

जैसे किसी मनुष्य ने गाढ-तिमिर में स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा हस्त-गत वस्तु को जाना कि यह पुस्तक है। फिर उसका आकार-प्रकार और वजन भी जाना। फिर दूरवर्ती बिजली के प्रकाश से टाईटल की खूबसूरती और कागज का रग, उसकी चमक, स्निग्धता तथा रूक्षता और मोटाई को भी जाना। 'द्रव्यार्थिक नय' का यह सक्षिप्त परिचय है।

अनन्तर उसकी भाषा भी जानी जा सकती है। रचयिता कौन है? भाषा-शैली कैसी है? विषय क्या है? छपाई कैसी है? मूल्य क्या है? कहाँ से मिलती है? इसके अभी तक कितने सस्करण निकल चुके हैं? कौन-से सन् में छपी है? किस प्रेस मे छपी है? भूमिका किस की लिखी हुई है? पृष्ठ सख्या और ग्रन्थाग्र कितना है? आदि अनेक प्रश्न हल किए जा सकते है, इसी को 'पर्यायार्थिक नय' कहते हैं।

दूसरा उदाहरण—

जैसे अबोध बालक किसी विशिष्ट चित्रगत सौन्दर्य को

संग्रह-नय

सामान्य मात्र-ग्राही परामर्श संग्रहः

— प्रमाण-नय तत्वालोक ७—१३

जातिमान्, क्रिया और कारक आदि उपक्रमो मे भेद और अभेद की विवक्षा करना ही नैगम-नय है ।

गुण और गुणी कभी भिन्न हैं और कभी अभिन्न । जिस समय कर्त्ता की विवक्षा भेद की ओर होती है, उस समय अभेद गौण हो जाता है, और जिस समय अभेद की विवक्षा की जाती है, उस समय भेद की गौणता स्पष्ट हो जाती है । साराश मे यह कथन पर्याप्त है कि भेद और अभेद को—गौण और प्रधान , दोनो भाव से ग्रहण करना ही 'नैगम-नय' का विपय है ।

यदि एकान्त भेद को ही ग्रहण करे और अभेद की विल्कुल नास्ति ही कर द, या अभेद को ही मान्यता की कोटि मे रखे, और भेद की पूर्णतया उपेक्षा करें, तो इसी का नाम 'नैगमाभास' है ।

वस्तुत नैगमाभास नय नही, बल्कि दुर्नय, अर्थात्—मिथ्यात्व-पोपक है, अत यह सिद्धान्त की कोटि मे नही आ सकता । जैसे कि न्याय तथा वैशेपिक दर्शनकारो ने सामान्य तथा विशेप ये दोनो परस्पर पदार्थों को अत्यन्त भिन्न माना है, द्रव्य, गुण और कर्म से भी उक्त दोनो पदार्थों को अत्यन्त भिन्न माना है । यही 'दुनय' है ।

संग्रह-नय

सामान्य मात्र-ग्राही परामर्श संग्रह

— प्रमाण-नय तत्वालोक ७—१३

अवरे परम-विरोहे, सव्व अत्थित्ति सुद्ध-संगहणो।
होइ तमेव असुद्धो इग-जाइ-विसेस-गहणेण ॥

— लघु नय-चक्र

"विभिन्न वस्तुओ में तद्‌गत विशेष गुण-धर्मों के कारण अत्यन्त विरोध होने पर भी वस्तु-गत 'सामान्य सत्ता' के कारण सभी को अस्ति रूप से ग्रहण करने वाला विचार 'शुद्ध-सग्रह-नय' है। और उन वस्तुओ मे अवान्तर समानताओ के आधार पर एक अलग जाति-विशेष का ग्रहण करने वाला विचार 'अशुद्ध सग्रह-नय' है।"

: ८ :

संग्रह-नय

नैगम-नय के पश्चात् अध्यापक ने छात्रों से संग्रह-नय की व्युत्पत्ति उसका स्वरूप तथा उसका विषय कितना है ? यह प्रश्न पूछा जिसका उत्तर सातों छात्रों ने इस प्रकार दिया ।

प्रथम छात्र

पहला छात्र बोला—'अर्थानां सर्वैकदेश संग्रहणं संग्रह' —१ पदार्थों के सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को संगृहीत करके एक सामान्य को स्वीकार करना ही 'संग्रह नय' की उपयोगिता है। इस नय की दृष्टि में सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं क्योंकि सामान्य धर्म सभी में विद्यमान है। सामान्य का विषय आकाश की तरह सर्व-व्यापी है।

द्वितीय छात्र

दूसरा छात्र बोला— सामान्य-रूपतया सर्वं संगृह्णातीति

१—तत्त्वार्थ भाष्य —१—३५ ।

सग्रह', अर्थात्—जो दृष्टि या श्रुत-ज्ञान सामान्य रूप से समस्त द्रव्यों का सग्रह करता है, वह 'सग्रह-नय' है। इसका विषय नैगम से कुछ सकुचित है, क्योकि नैगम-नय का विषय सामान्य और विशेष दोनो ही है। किन्तु सग्रह का विषय केवल सामान्य ही है।

तृतीय छात्र

तीसरा छात्र बोला—"सर्वेऽपि भेदा सामान्य रूपतया सगृह्यतेऽनेनेति सग्रह", अर्थात्—जिस ज्ञान के द्वारा सभी भेद तथा उपभेदो का सग्रह किया जाए, वह 'सग्रह-नय' कहलाता है। अर्थात्—जो विचार भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओ तथा अनेक व्यक्तियो को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप मे सगृहीत कर लेता है, वह 'सग्रह-नय' है।

चतुर्थ छात्र

चौथा छात्र बोला—'सामान्य मात्र ग्राही परमार्थं सग्रह', अर्थात्—सामान्य मात्रग्राही जो ज्ञान है, वह 'सग्रह-नय' है। इस वाक्य मे 'मात्रपद' दिया है, जिसका अर्थ होना है—"मात्र कात्स्र्न्येऽवधारणे च"—मात्रपद सम्पूर्ण और निश्चय का द्योतक है। 'सग्रह-नय' का विषय निश्चितरूपेण सामान्य ही है अर्थात्—जहाँ-जहाँ सामान्य है, वहाँ-वहाँ सग्रह नय का विषय है।

पचम छात्र

पाचवा छात्र बोला—"सामान्यमशेष-विशेष-रहितम्"—

अर्थात् जो समस्त विशेषो मे रहित है वही सामान्य है।
संग्रहण सामान्यरूपतया सर्व-वस्तूनामाक्रोडन सग्रह
अर्थात्—जो वाक्य सामान्य रूप से सभी वस्तुओं को अभेद
दृष्टि से एक रूप में सग्रह करे वह सग्रह-नय' है। जैसे
कि मनुष्य जाति में सज्ञी-मनुष्य तथा असज्ञी-मनुष्य
अपर्याप्त मनुष्य और पर्याप्त-मनुष्य छहों सहनन वाले
मनुष्यों तथा छहों सस्थान वाले मनुष्यो और अखिल
वर्णों का अन्तर्भाव हो जाता है, अर्थात्—मनुष्य जाति में
सभी प्रकार के मनुष्य अभेद रूप से रह रहे हैं जिसे
शास्त्रीय परिभाषा मे मनुष्य दण्डक' भी कहते हैं।

षष्ठ छात्र

छठा छात्र बोला—जो एकीभाव करके पिंडीभूत विशेष
राशि का ग्रहण करे उसे 'सग्रह-नय' कहते हैं। सग्रह दो
प्रकार का होता है—सामान्य और विशेष। पहला सामान्य
सग्रह जैसे कि सर्व द्रव्य परस्पर अविरोधी है। और दूसरा
विशेष सग्रह—जैसे कि सभी जीव-द्रव्यात्मा की दृष्टि से
परस्पर अविरोधी है।

सप्तम छात्र

सातवाँ छात्र बोला—सगृहीत का अर्थ है—पर सग्रह।
पिण्डित का अर्थ है—अपर सग्रह। अथवा सगृहीत का अर्थ है
महासामान्य और पिण्डित का अर्थ है—सामान्य-विशेष। सत्ता
पर-सग्रह महासामान्य मे सब सामान्य सग्रह के सामान्तर

हैं। जैसे कि द्रव्यत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि धर्म, सभी द्रव्यो मे समान रूप से विद्यमान है।—१

पिण्डित, अवान्तर, सामान्य, अपर सग्रह, आदि ये सब विशेष सग्रह के नामान्तर हैं। जैसे कि जीवत्व, पुद्गलत्व आदि धर्मस्व स्व-जाति मे अविरोधी भाव से रह रहे हैं। पर-जाति की अपेक्षा उपर्युक्त धर्म विशेष हैं, क्योकि ये धर्म अन्य द्रव्यो मे नही पाए जाते है, अत इसे विशेष सग्रह कह सकते हैं। स्व-जाति के विरोध के बिना समस्त पदार्थों का एकत्व मे सग्रह करना ही 'सग्रह-नय' कहलाता है।

अध्यापक ने सब छात्रो के द्वारा की गई 'सग्रह नय' विषयक व्याख्या को दत्त-चित होकर सुना और साथ ही उन सभी के द्वारा वर्णित भिन्न-भिन्न लक्षणो को सकलित करते हुए अपने ढग से सग्रह-नय का विवेचन इस प्रकार किया —

अध्यापक

आप लोगो ने सग्रह-नय का भिन्न-भिन्न शैली से जो विवेचन किया है, वह निस्सन्देह विरोधी नही है। आशय तो सब का एक ही है, किन्तु कथन का ढग एक-दूसरे से भिन्न है। जिस प्रकार किसी ने रुपये का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि

१—सगहिय-पिडियत्थ सगह-वयण समासओ विति।

— अनुयोगद्वार, सूत्र

दो अठन्नियों को रुपया कहते हैं। किसी ने कहा चार चवन्नियों को किसी ने आठ दुअन्नियों को एवं सोलह आने को बत्तीस टके को चौसठ पैसों को तो किसी ने १९२ पाइयों को रुपया बतलाया। जैसे उपयु क्त सभी वाचक भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उन सभी वाचकों का वाच्य एक ही है।

सामान्य या अभेद को ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रह-नय' है। यह हम जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है अर्थात् भेदाभेदात्मक है। इन दोनों धर्मों में से सामान्य या अभेद धर्म का ग्रहण करना और विशेष-धर्म के प्रति अर्थात्—भेद-धर्म के प्रति उदासीनता प्रकट करना 'संग्रह नय' है। वस्तुतः कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो सत् न हो। जिस प्रकार मीसादि आकार वाले समस्त ज्ञान सामान्य ज्ञान के भेद हैं उसी प्रकार जीवादि जितने भी तत्त्व हैं सब सत् हैं। परन्तु संग्रह की मान्यता है कि सब एक है क्योंकि सब सत् हैं।

इस सम्बन्ध में स्थानांग सूत्र के एक स्थान में लिखा है कि—आत्मा एक है।—१ जबकि अन्य आगमों में आत्मा की संख्या अनन्तानन्त बतलाई गई है। फिर आत्मा की संख्या एक कैसे मानी जाए? ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। अतः यह कहना पड़ेगा कि यह पाठ 'संग्रह-नय' की अपेक्षा से कहा गया है। आत्मा एक है द्रव्यात्मा अथवा उप योगात्मा की दृष्टि से। ये दो आत्मा-स्वरूप अल्प-विकासी

१—एगे आया ·

निगोद-जीव से लेकर सम्पूर्ण-विकासी सिद्धात्म पर्यन्त सभी जीवो मे एक अर्थात् समान पाए जाते है। इसी प्रकार 'एगे पुण्णे' पुण्य एक है, जबकि इसी सूत्र के नौ वे स्थान मे नौ प्रकार के पुण्य का उल्लेख है। इस शका का समाधान भी सग्रह-नय की दृष्टि से हो जाता है। यद्यपि पुण्य अनेक प्रकार का है, फिर भी शुभ अध्यवसाय रूप होने के कारण वह सब एक ही है। यही बात 'एगे पावे' पाप एक है, इस सम्बन्ध मे भी है। अशुभ अध्यवसाय-रूप से परिणत आत्मा का परिणाम पाप है, वह अनेक प्रकार का होते हुए भी अशुभत्वेन एक है। इस प्रकार स्थानाग सूत्र का पहला स्थान प्राय 'सग्रह-नय' से ओत-प्रोत है।

द्रव्यावश्यक के करने वाले जितने भी व्यक्ति हैं, नैगम-नय, उतने ही द्रव्यावश्यक मानता है, किन्तु सग्रह-नय द्रव्यावश्यक रूप में सब को एक मानता है। इसी प्रकार द्रव्य-श्रुत के विषय में भी समझ लेना। वसति के विषय मे—सग्रह-नय मानता है कि जिस शय्या पर व्यक्ति आराम करता है, वह उसकी वसति है।

प्रदेश दृष्टान्त के विषय मे—नैगम-नय छह के प्रदेश मानता है। जैसे—धर्म-प्रदेश, अधर्म-प्रदेश, आकाश-प्रदेश, जीव-प्रदेश स्कन्ध-प्रदेश, देश-प्रदेश। जबकि सग्रह-नय मानता है कि देश-प्रदेश के विना पाँच के प्रदेश हैं, क्योकि 'देश' उसी द्रव्य का एक भाग है, और उसके प्रदेश तो द्रव्य मे ही सम्मिलित किये जा सकते हैं। स्वतन्त्र रूप मे देश कोई चीज ही नही है। जैसे—मेरे गुलाम ने घोडा खरीदा

है' इस वाक्य में कुलाम भी मेरा है और घोड़ा भी मेरा। अतः ऐसा नहीं कहना चाहिए कि छह के प्रदेश होते हैं बल्कि यह कहना चाहिए कि पाँच के प्रदेश हैं जैसे—धर्म प्रदेश अधर्म प्रदेश आकाश प्रदेश जीव प्रदेश और स्कन्ध प्रदेश।

महासामान्य के अवान्तर भेदों का ग्रहण करना संग्रह का काम है। अपर-सामान्य पर-सामान्य के द्रव्य-गुण आदि भेदों में रहता है अर्थात्—द्रव्य में रहने वाली सत्ता 'पर सामान्य' है और द्रव्य का जो द्रव्यत्व सामान्य है वह 'अपर सामान्य' है। इसी प्रकार गुण में सत्ता 'पर-सामान्य' है और गुणत्व अपर-सामान्य' है जैसे—जीव-द्रव्य में जीवत्व सामान्य अपर-सामान्य है। इस प्रकार जितने भी अपर हो सकते हैं उन सब का ग्रहण करने वाला अपर संग्रह है। घटत्व पटत्व गोत्व तथा ब्राह्मणत्व आदि उदाहरण अपर-सामान्य के ही बनते हैं।

'संग्रह-नय की दृष्टि से सभी मुक्तात्मा एक समान हैं अर्थात्—पन्द्रह भेद वाले सिद्धों की गणना संग्रह नहीं करता है। यदि इसे अभेद-नय कहा जाए तो असंगत न होगा। जिस प्रकार चारित्रात्मा में पाँचों ही चारित्रों का संग्रह हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानात्मा में पाँचों ही ज्ञान का संग्रह हो जाता है। इसी क्रम के अनुसार कषायात्मा में चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों का संग्रह और योगात्मा में पच्चीस योगों का संग्रह हो जाता है।

संग्रह-नय

संग्रहो मन्यते वस्तु,
सामान्यात्मकमेव हि ।
सामान्य-व्यतिरिक्तोऽस्ति,
न विशेष ख-पुष्पवत् ॥

— नय-कणिका

संग्रह-नय वस्तु को केवल सामान्यात्मक ही मानता है, क्योकि सामान्य से अलग विशेष आकाश के फूल की तरह कोई अस्तित्व नही रखता ।

•

व्यवहार-नय

लौकिक सम उपचारप्रायो,
विस्तृतार्थो व्यवहार

— तत्त्वार्थ भाष्य १—३५,

संग्रह-नय

सग्रहो मन्यते वस्तु,
सामान्यात्मकमेव हि ।
सामान्य-व्यतिरिक्तोऽस्ति,
न विशेष ख-पुष्पवत् ॥

— नय-कर्णिका

सग्रह-नय वस्तु को केवल सामान्यात्मक ही मानता है, क्योकि सामान्य से अलग विशेष आकाश के फूल की तरह कोई अस्तित्व नही रखता ।

६

व्यवहार-नय

अध्यापक ने अपना संग्रह-नय विषयक वक्तव्य संक्षेप से निरूपण करके व्यवहार-नय का यथार्थरूप विवेचन करने के लिए छात्रों को आदेश दिया। तदनुसार छात्रों ने 'व्यवहार-नय' का विवेचन इस प्रकार किया—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—जिसके द्वारा सामान्य का निराकरण किया जाए, और विशेष रूप से व्यवहार किया जाए उसे 'व्यवहार-नय' कहते हैं।—१

तत्त्व-ज्ञान के प्रदेश में सद्रूप वस्तु भी जड़ और चेतन रूप में दो प्रकार की है। आगम में जड़-पदार्थ पांच प्रकार से वर्णित हैं जैसे—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय कालद्रव्य और पुद्गलास्तिकाय। इनमें से पुद्गलास्तिकाय

१—विशेषतोऽवह्रियते निराक्रियते सामान्यं येन इति व्यवहारः।
—विशेषावश्यक भाष्य-वृत्ति

"ज संगहेण गहिय भेयइ अत्थ असुद्ध-सुद्ध वा।
सो ववहारो दुविहो असुद्ध-सुद्धत्थ भेयकरो॥"

— लघु नय-चक्र

सग्रह-नय से ग्रहण की गई समस्त द्रव्यो की एक जाति मे विधिवत् भेद करने वाला, शुद्धार्थ-भेदक व्यवहार-नय है। यथा —द्रव्य के दो भेद है—'जीव' और 'अजीव', तथा उन अवान्तर जातियो मे भी उपभेद करने वाला अशुद्धार्थ-भेदक व्यवहार-नय है। यथा—जीव के दो भेद हैं—'ससारी' और 'मुक्त'।

उतर सकता है वह खर-शृङ्गवत् अवस्तु है। अतः लौकिक क्रिया का सूत्र-पात करने वाला व्यवहार-नय ही है।

तीर्थङ्कर भी छद्मस्थ को सन्मार्ग पर लगाने के लिए व्यवहार-नय का अनुसरण करते हैं। जो शिक्षा और उपदेश सूत्रों में विहित है वे सब प्रायेण व्यवहार-नय पर अवलम्बित हैं।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"विविध वस्तुओं को एक रूप में संकलित करने के पश्चात् उनका विशेष रूप में बोध कराना हो या लोक-व्यवहार में उपयोग करने का जब भी प्रसंग आए, तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक् करण करने वाली दृष्टि को व्यवहार-नय कहते हैं। जैसे कि मनुष्य कहने मात्र से भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों का अलग अलग बोध नहीं हो सकता।—१

व्यवहार-नय मुख्यतया मनुष्य के चार भेद स्वीकार करता है जैसे—कर्म भूमिक अकर्म भूमिक अन्तर्द्वीपिक तथा संमूर्छिम अथवा स्त्री पुरुष और नपुंसक। इसी प्रकार चार वर्ण और प्रत्येक वर्ण की भिन्न भिन्न जाति और भिन्न भिन्न कुल जैसे—धनी और निर्धन रोगी और नीरोगी सद्गुणी और दुर्गुणी रूपवान और रूप विहीन सज्जन और दुर्जन आर्य और अनार्य आदि अनेक भेद बन जाते हैं।

१—लोक-व्यवहारपरो वा विशेषतो यस्मात् इति व्यवहारC

— नय प्रदीप

ही रूपी तथा मूर्त है, शेप चार अरूपी और अमूर्त हैं।

चेतन तत्त्व के दो भेद ह - मुक्त और समारी। व्यवहार-नय के अनुसार मुक्तात्मा के पन्द्रह भेद आगम-विहित है, और ससारी जीवो के पाँच-सौ तरेसठ भेद हे। उक्त मामान्य तत्त्व के भेदानुभेद करके उसे व्यवहार मे लाना ही इस नय का मुख्य ध्येय है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"सग्रह-नय के द्वारा सगृहीत अर्थ का विधि पूर्वक अवहरण करना, अर्थात्—जिस अर्थ को सग्रह-नय ग्रहण करता है, उसी अर्थ को विशेष रूप से जब बोध कराना हो, तब उसका पृथक्करण करना पडता है, यही व्यवहार-नय है।'—२। जैसे कि औपध मात्र कहने और जानने से सामान्य का ही बोध हो मकता है, विशेष का नही। विशेष तो होगा—देशी और विदेशी।

फिर प्रत्येक के चार-चार भेद हे, जैमे—खाने की, पीने की, डालने की और लगाने की औपधियाँ। आगे चलकर उनके नाम, गुण, दोष, मात्रा तथा सेवन-विधि, और अनुपान आदि प्रत्येक के भिन्न-भिन्न भेद हैं। इस प्रकार जानकारी के द्वारा अध्यवसाय विशेष को व्यवहार मे लाना ही लौकिक व्यवहार है। जो सामान्य-तत्त्व व्यवहार-पथ पर सही नही

२—विधि-पूर्वकमवहरण व्यवहार।

— तत्त्वार्थ राजवार्तिक

पंचम छात्र

पांचवें छात्र ने कहा—"लौकिक के समान और प्राय: अधिकतर उपचार के आश्रयीभूत अर्थ को विस्तृत करने वाली दृष्टि को व्यवहार-नय कहते हैं।"—१ जैसे कि लोक-व्यवहार में भ्रमर तथा कोयल काली है तोता हरा है हंस श्वेत है। किन्तु निश्चय दृष्टि से इनमें पांचों ही वर्ण हैं। किंशुक पुष्प निर्गन्ध है जबकि निश्चय दृष्टि की उसमें गन्ध मान्य है। लोक-व्यवहार अग्नि में रस वायु में रूप मान्य नहीं करता है जबकि निश्चय दृष्टि मान्य करती है।

फूल सुकोमल तथा हल्का होता है यह कथन भी व्यावहारिक ही है। निश्चय दृष्टि से तो फूल में आठों ही स्पर्श पाए जाते हैं। लोक-व्यवहार में जैसा प्रसिद्ध है उसे तद्रूप में ही स्वीकार करना 'लौकिक-सम' कहलाता है। उसी को व्यवस्थित तथा विशिष्ट दृष्टि से बतलाने वाला 'व्यवहार-नय' है। चार्वाक आदि दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही मानते हैं शेष प्रमाणों का सर्वथा निषेध करते हैं। उनकी विचार-धारा व्यवहार नयाभास में अन्तर्भुक्त हो जाती है।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—"जो अध्यवसाय विशेष वस्तु का

१—लौकिकसम उपचार प्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार।

— तत्त्वार्थ भाष्य

व्यवहार-नय वहाँ तक भेद करता जाता है, जहाँ तक पुन भेद की सभावना न हो।

शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार मनुष्य की चौदह लाख योनियाँ हैं। इन भेदो की कल्पना व्यवहार-नय पर ही अवलम्बित है। इस नय का मुख्य लक्ष्य है—व्यवहार-सिद्धि।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"जो अध्यवसाय-विशेष लोक-व्यवहार के लिए अत्यन्त उपयोगी है, वही व्यवहार-नय है।" यह नय उसी पदार्थ की घट-सज्ञा को स्वीकार करता है, जो जल धारण-आहरण आदि अर्थ मे क्रियाकारी हो। जिस में अर्थ-क्रियाकारिता न हो, उसे घट नही मानता है। जिसमे शीत-निवारण एव तनु-आवरण आदि अर्थ-क्रियाकारिता न हो, उसकी पट-सज्ञा को अङ्गीकार नही करता। जिसमे दस द्रव्य-प्राणो मे से एक भी प्राण न हो, उसे प्राणी नही मानता। जिसमे विशिष्ट ज्ञान न हो, उसे ज्ञानी नही मानता।

यह नय ज्ञान के चार साधन स्वीकार करता है, जैसे - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आगम। लोक-व्यवहार का भी यही मन्तव्य है, और व्यवहार-नय का भी, किन्तु दृष्टि मे अन्तर है। लौकिक दर्शन एकान्त दृष्टि से किसी तत्त्व-विशेष को मानता है, जबकि व्यवहार-नय अनेकान्त दृष्टि से अपने विषय को ग्रहण करता है। यही दोनो मे अन्तर है।

छेद-सूत्रों में प्रमत्त साधकों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। वह प्रायः व्यवहार की अशुद्धि एवं संयम की स्खलना से बचने के लिए है। जहाँ साधक जीवन में अप्रमत्त अवस्था है वहाँ भी व्यवहार की शुद्धि अनिवार्य हो जाती है।

यह व्यवहार-नय भी द्रव्य को ही ग्रहण करता है, किन्तु इसका ग्रहण भेद-पूर्वक है अभेद-पूर्वक नहीं।

सप्तम छात्र

सातवें छात्र ने कहा— वच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्व दव्वेसु, —१ इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं—

निश्चय-सामान्य विगलो निश्चयो विनिश्चय सामान्या भाव तदर्थं तन्निमित्त व्रजति प्रवर्तते सामान्याभावायैव भवते व्यवहारो नय इत्यर्थ —२

अर्थात्— 'सामान्य-अभाव' के लिए प्रवृत्ति करने वाले दृष्टि-कोण को 'व्यवहार-नय' कहते हैं। यह लोक-व्यवहार का अंग होने के कारण सामान्य को नहीं मानता। केवल विशेष को ही ग्रहण करता है। अथवा यों कहिए कि व्यवहार नय लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाला है।

व्यवहार-नय के दो भेद हैं—सामान्य-भेदक और विशेष भेदक। सामान्य-संग्रह में भेद करने वाले नय को 'सामान्य

१—अनुयोग द्वार सूत्र

२—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति

विभाग उपचार रूप से करे, वह 'व्यवहार-नय' है ।—१ सर्व-द्रव्यो और उनके विषयो मे सदा प्रवृत्ति करने वाले नय को 'व्यवहार-नय' कहते हैं।" यह नय प्राय लोक-व्यवहार सरणि का अनुसरण करने वाला है । जैसे कि घडा चूता है। वस्तुत चूता तो पानी है, किन्तु कहने मे यही आता है कि घडा चूता है । रास्ता चलता है, कुँआ चलता है, नगर आया, पर्वत जलता है, आदि कथन व्यवहार-नय के अनुसार प्रचलित है। जहाँ औपचारिक रूप से भेद का कथन किया जाए, वहाँ 'व्यवहार-नय' का अवतरण हो जाता है ।

व्यवहार के लिए सदैव भेद-बुद्धि का अवलम्बन लेना पडता है । यह भेद-बुद्धि परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि-पथ मे रखते हुए अन्तिम भेद तक बढ सकती है, जिससे कि पुन भेद न हो सके । तीर्थङ्कर भगवान् भी व्यवहार की मर्यादा का अतिक्रमण नही करते । वस्तुत 'व्यवहार-नय' छद्मस्थो के लिए अत्यधिक उपयोगी है, और केवली भगवन्तो के लिए 'निश्चय-नय' । किन्तु फिर भी केवली भगवान् छद्मस्थ जनो का व्यवहार शुद्ध रखने के लिए स्वय ही 'व्यवहार-नय' का अनुसरण करते हैं । जैसे रात्रि के समय अभ्यन्तर परिषद मे रहना, (मल्लिनाथ भगवान् की अभ्यन्तर परिषद श्रमणी-वर्ग था) और सूर्यास्त के बाद विहार न करना, इन दोनो व्यवहार-मर्यादाओ का पालन करते हैं ।

१—"भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहार ।"
— आलाप पद्धति

छेद-सूत्रों में प्रमत्त साधकों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। यह प्रायेण व्यवहार की समृद्धि एवं संयम की स्खलना से बचने के लिए है। जहाँ साधक जीवन में अप्रमत्त अवस्था है वहाँ भी व्यवहार की शुद्धि अनिवार्य हो जाती है।

यह व्यवहार-नय भी द्रव्य को ही ग्रहण करता है, किन्तु इसका ग्रहण भेद-पूर्वक है अभेद-पूर्वक नहीं।

सप्तम छात्र

सातवें छात्र ने कहा—'वच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्व दव्वसु, —१ इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्य धारी हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं—

'निश्चय-सामान्य विगतो निश्चयो विनिश्चय' सामान्या भाव' तदर्थं तन्निमित्तं व्रजति प्रवर्तते सामान्याभावायैव यतते व्यवहारो नय इत्यर्थः —२

अर्थात्—'सामान्य-अभाव के लिए प्रवृत्ति करने वाले दृष्टि-कोण को 'व्यवहार-नय' कहते हैं। यह लोक-व्यवहार का अंग होने के कारण सामान्य को नहीं मानता। केवल विशेष को ही ग्रहण करता है। अथवा यों कहिए कि 'व्यवहार नय' लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाला है।

व्यवहार-नय के दो भेद हैं—सामान्य-भेदक और विशेष भेदक। सामान्य-संग्रह में भेद करने वाले नय को सामान्य

१—अनुयोग द्वार सूत्र
२—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति

भेदक' व्यवहार-नय कहते हैं। जैसे कि द्रव्य के दो भेद हैं— जीव और अजीव, रूपी और अरूपी, सक्रिय और निष्क्रिय, सप्रदेशी और अप्रदेशी, सचेतन और अचेतन, अगुरु-लघु और गुरु-लघु, भोक्ता और अभोक्ता आदि आदि।

विशेष-सग्रह मे भेद करने वाला विशेष-भेदक 'व्यवहार-नय' है। जैसे जीव के दो भेद–ससारी और मुक्त। छह द्रव्यो मे पुद्गलास्तिकाय रूपी है, शेष पाँच अरूपी। जीव और पुद्गल कथचित् सक्रिय हैं, शेष चार निष्क्रिय। एक काल-द्रव्य अप्रदेशी है, शेष पाँच सप्रदेशी। एक सचेतन द्रव्य भोक्ता है, शेष पाँच अभोक्ता। एक पुद्गलास्तिकाय कथचित् गुरु-लघु है, शेष पाँच अगुरु-लघु। एक आकाशास्तिकाय क्षेत्र है, शेष पाँच क्षेत्री। पुद्गलास्तिकाय के सिवाय पाँच द्रव्यो मे एक जीवास्तिकाय पोग्गल और पोग्गली है, शेष चार अपोग्गली, आदि विशेष-भेदक 'व्यवहार-नय' है।

जब सभी छात्र अपनी-अपनी बुद्धि से व्यवहार-नय का विस्तृत विवेचन कर चुके, तब अध्यापक बोला।

अध्यापक

मेरे प्रिय शिष्यो ! यद्यपि आप लोगो ने व्यवहार-नय का विवेचन यथाशक्य बहुत कुछ किया, तथापि मैं अवशिष्ट विषय का स्पष्टीकरण तथा उपसहार करता हूँ। उसे ध्यान पूर्वक सुनो—

जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में सकलित वस्तुओ का व्यावहारिक प्रयोजनानुसार पृथक्करण

करता है वह व्यवहार-नय है।

इसका विषय संग्रह-नय से न्यून है क्योंकि सामान्य से विशेष का विषय न्यून ही हुआ करता है। व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए भी द्रव्य-रूप है न कि पर्याय-रूप। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों में से व्यवहार का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया गया है। नैगम संग्रह और व्यवहार ऋजुसूत्र इन चारों नयों का समावेश द्रव्यार्थिक नय में हो जाता है शेष तीन नय-पर्यायार्थिक के भेद हैं। यह नय बाह्य स्वरूप का परिचायक है और अपवाद मार्ग का अनुसरण करने वाला है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

अर्थात्—शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा उनका भोक्ता आत्मा ही है।—१

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होई अस्सि लोए परत्थ य॥

अर्थात्—आत्मा को दमन करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। आत्मा अतीव दुर्दम है। वस्तुतः दान्तात्मा ही ऐहिक तथा पारलौकिक सुख का अधिकारी होता है।—२

एक ओर तो भगवान् ने आत्म विकास के लिए पूरा पूरा जोर दिया है और दूसरी ओर आत्मा को दमन करने

१—उत्तराध्ययन सूत्र
२—उत्तराध्ययन सूत्र

को कहा है। अब इन दोनो मार्गों मे से कौन-सा ग्राह्य है? यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है। इसका समाधान उक्त गाथा से ही हो जाता है। यहाँ कषायात्मा तथा योगात्मा से तात्पर्य है, इनका दमन करना ही आत्म-विकास है। इनका दमन सयम और तप से किया जा सकता है। सयम से पाँच आस्रवो का प्रवाह रोका जाता है और तप से अन्दर ही अन्दर कर्मों का शोषण करके उन्हे सत्ता-हीन बनाया जाता है। जैसे—अमृतपान शरीर-व्यापी विष को निर्विष बना देता है। यही उदाहरण तप में समझना चाहिए।

यह सब उपदेश व्यवहार-नय के अनुसार समझना चाहिए। क्योकि कर्म-बन्ध और मोक्ष व्यवहार-दृष्टि से है, निश्चय-दृष्टि से तो मूर्त और अमूर्त का परस्पर बन्ध हो ही नही सकता। जब बन्ध ही नहो, तो मुक्त होने का प्रश्न पैदा ही नही हो सकता। निश्चय मे तो आत्मा न कर्त्ता है, और न औदयिक दु ख और सुख का भोक्ता ही। यदि आत्मा को एकान्त-रूपेण कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता माना जाय, तो सिद्ध भगवन्तो को भी ससारी जीवो की तरह कर्मों का कर्ता और भोक्ता मानना पडेगा। ऐसी मान्यता सिद्धान्त मे स्वीकृत नही है। निश्चय-दृष्टि तो ऐसा मानती है कि कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता कथचित् कर्म ही है। निश्चय-दृष्टि चारित्र को भी व्यवहार मे समाविष्ट करती है, और आत्मा को केवल ज्ञाता एव द्रष्टा ही मानती है। ये ही आत्मा के दो वास्तविक गुण है। चारित्र का सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर के विना चारित्र नही होता। मुक्तात्मा मे शरीर

नहीं मत' वहाँ चारित्र भी नहीं है। तप जप संयम ध्यान समाधि स्वाध्याय आदि शुभ क्रियाएँ, व्यवहार-नय की सीमा में परिसीमित है। परोपकार दान-शीलता जीव रक्षा रोगोपचार अनुकम्पा तथा अनाथ दीन-हीन दुखियों को सक्रिय सहयोग देना आदि शुभ क्रियाएँ भी व्यावहारिक हैं।

गुरु शिष्य को वाचना देते है और शिष्य गुरु से वाचना लेते है अर्थात्—विद्या का आदान-प्रदान व्यावहारिक है। व्यवहार-नय साधक को निश्चय की ओर अभिमुख करता है और निश्चय श्रेणी में पहुँचने के पश्चात् वह व्यवहार-नय की श्रेणी मे कदाचित् नही रहता है। व्यवहार-नय चारों प्रमाणों तथा चारों निक्षेपों को स्वीकार करताहै एव काल नय को भी मान्य करता है। तीन लोक एव तीन योग को भी व्यावहारिक शैली मे मानता है।

व्यवहार का स्वरूप अन्य प्रकार से भी ग्रन्थो मे वर्णित है। जैसे—व्यवहार दो प्रकार का होता है। (क) सद्भूत व्यवहार और (ख) असद्भूत-व्यवहार।

सद्भूत-व्यवहार का विषय एक वस्तु है अर्थात्—जहाँ एक वस्तु में अभिन्न होते हुए भी भिन्नता की प्रतीति हो वह सद्भूत-व्यवहार कहलाता है। जैसे—एक वृक्ष है, उसके साथ लगी हुई शाखाएँ और प्रतिशाखाए अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होती हैं। सद्भूत के दो भेद है— (क) शुद्ध-सद्भूत और (ख) अशुद्ध-सद्भूत। शुद्ध-सद्भूत के भी दो भेद है—(अ) निरुपाधि शुद्ध गुण-गुणी का भेद-कथन

करना, अथवा (ख) शुद्ध-पर्याय-शुद्ध-पर्यायी का भेद कथन करना। क्षायिक भाव से होने वाले राग विकाररहित शुद्ध आत्मा मे उसके गुण और पर्याय का भेद कथन करना।

अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहार के भी दो भेद है—(क) अशुद्ध गुण-गुणी का, (ख) तथा अशुद्ध-पर्याय और पर्यायी का भेद-कथन करना। इसके साथ सोपाधि शब्द जोड देना चाहिए। जिसका अर्थ होना है—कर्म-जनित विकार के साथ होने वाले परिणाम अर्थात्—औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक भावो मे होने वाले आत्म-परिणाम सभी सोपाधिक है। अशुद्ध-गुण,अशुद्ध-गुणी का उदाहरण मति-ज्ञान आदि चार ज्ञान, मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान, आदि अशुद्ध गुण है।

जीव (अशुद्ध) गुणी क्षयोपशम-जन्य है। नैरयिक आदि औदयिक-जन्य अशुद्ध-पर्याय हैं, जीव अशुद्ध पर्यायी है। शुद्ध सद्भूत को अनुपचरित सद्भूत और अशुद्ध सद्भूत को उपचरित सद्भूत भी कहते हैं।

जहाँ मुख्यता का तो अभाव हो, और किसी प्रयोजन के होने पर या किसी अन्य निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति हुआ करती है, वह उपचार सम्बन्ध का सहचारी है, अर्थात्—उपचार और सम्बन्ध का परस्पर अविनाभाव है। जहाँ-जहाँ उपचार है, वहाँ-वहाँ सम्बन्ध अनिवार्य है। जैसे स्फटिक रत्न पर जपाकुसुम रखने से स्फटिक रत्न लाल हो जाता है, क्योकि स्फटिक रत्न द्रव्य है, और जपाकुसुम भी द्रव्य है। यह है—द्रव्य मे द्रव्य का

उपचार । जो आकार—संस्थान जपाकुसुम का है वही आकार—संस्थान स्फटिक रत्न में प्रतिबिम्बित हो जाता है। यह है—द्रव्य में पर्याय का उपचार। जपाकुसुम का रंग लाल होता है वही रंग स्फटिक रत्न में देखा जाता है अत यह है—द्रव्य में गुण का उपचार।

इसी प्रकार—गुण में गुण का उपचार पर्याय मे पर्याय का उपचार गुण में द्रव्य का उपचार, गुण में पर्याय का उपचार पर्याय में गुण का उपचार पर्याय में द्रव्य का उपचार समझ लेना चाहिए। इस विश्लेषण के अनुसार उपचार के कुल छह भेद हैं।

असद्भूत व्यवहार के तीन भेद हैं जैसे—(क) स्वजाति असद्भूत व्यवहार अर्थात्—परमाणु बहु प्रदेशी है यह कहना। (ख) विजाति-असद्भूत व्यवहार जैसे—मति-ज्ञान मूर्तिमान है क्योंकि वह ज्ञान मूर्त से जनित है यह कहना। (ग) उभय असद्भूत व्यवहार जैसे—ज्ञेय रूप जो जीव और अजीव है—उन्हें ज्ञान कहना अर्थात्—यदि जीव न हों तो ज्ञान किसी का हो ही नहीं सकता अत जीव अजीव का ज्ञान समझना। वस्तुत बाह्य वस्तु तो सभी ज्ञेय हैं और ज्ञान तो केवल आत्मा में ही है।

असद्भूत-व्यवहार नय का अन्य तीन प्रकार से भी वर्णन है—

(क) स्वजाति उपचरितासद्भूत व्यवहार अर्थात्—यह पुत्र मेरा है। इसी प्रकार मनुष्य जाति के समस्त सम्बन्ध इसी व्यवहार में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

ऋजुसूत्र-नय

'सतां साम्प्रतानामर्थाना
मभिधान-परिज्ञानम् ऋजु-सूत्र ॥"

— तत्त्वार्थ भाष्य, १-३५,

१०

ऋजुसूत्र-नय

व्यवहार-नय के पश्चात् अध्यापक ने छात्रों से 'ऋजुसूत्र विषयक विवेचन करने के लिए निर्देश किया। निर्देश पाकर छात्रों ने ऋजुसूत्र की इस प्रकार व्याख्या की —

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा— वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले अध्यवसाय विशेष को 'ऋजुसूत्र-नय' कहते हैं। जैसे— इस समय में सुख की पर्याय है यहाँ वर्तमान क्षण-स्थायी सुख-पर्याय को प्रधान मानकर अधिकरण भूत आत्मा को गौण रूप से स्वीकार करता है अर्थात्—आत्मा के अनन्त पर्यायों में से वर्तमान क्षण में किसी एक पर्याय को दृष्टि-पथ में रखकर पर्यायी को गौणता प्रदान करना ही इस नय का मुख्य विषय है।—१

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—'जो सीधे ढग से वस्तु को मुक्ता-फल की तरह एक सूत्र मे पिरोए, वह श्रुत-ज्ञान विशेष ऋजुसूत्र कहलाता है।'—१

जो मोती के वर्त्तमान क्षण में विद्ध हैं, वस्तुत वे ही, एक लडी में पिरोये जा सकते हैं—दूसरे प्रकार के नही। इसी प्रकार अतीत क्षण की पर्याय भग्न मोती के समान है और अनागत क्षण की पर्याय अविद्ध मोती के सदृश हैं। अत दोनो तरह के मोती हार मे पिरोने के अयोग्य हैं। केवल विद्ध मोती ही सूत्र मे पिरोया जा सकता है। वह है वर्त्तमान पर्याय, जिसको ऋजुसूत्र-नय का विषय कहते हैं। सीधे ढग से केवल वर्त्तमान पर्याय ही ग्राह्य है, और यही कार्य-साधक है। इसके सिवाय अतीत और भावी से किसी भी कार्य की सिद्धि नही हो सकती। जैसे—इस घट मे घृत था, और उसमे मधु। अस्तु, इस घट मे घृत डालेंगे, और उसमे मधु। उक्त रिक्त घट को देखकर घृताकांक्षी तथा मधु के इच्छुक की आशा पर तुषारपात हो जाता है, उनसे मनोरथ सफलीभूत नही हो सकता, किन्तु वर्त्तमान क्षण-वर्ती घृत-घट तथा मधु-घट से ही कार्य की सिद्धि हो सकती है।

१—ऋजुम्-अवक्र वस्तु सूत्रयतीति ऋजु सूत्र।'

— नय प्रदीप

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—'ऋजुसूत्र नय का मत है—वर्तमान पर्याय-अनुसारी। सूत्र का अर्थ है—श्रुत ज्ञान अर्थात् जो श्रुतज्ञान वर्तमान पर्याय-अनुसारी है, उसे 'ऋजुसूत्र नय' कहते हैं। यह नय अतीत तथा भावी पर्याय को कुटिल मानता है और केवल वर्तमान कालीन पर्याय को ही ज्ञान का सरल मार्ग मानता है। अतीत वासना की स्मृति और भविष्य की चिन्ता—ये दो प्रकार की कुप्रवृत्तियाँ हैं जो भले ही संसारी मनुष्य के लिए लाभ-दायक हों परन्तु आध्यात्मिक साधक के लिए बहुत कुछ हानिकर हैं। किसी ने ठीक कहा है—

'गतं शोको न कर्तव्यो भविष्यन्नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः ॥

अथवा

गई वस्तु सोचे नहीं आगम वांछा नाहिं।
वर्तमान वर्तें सदा सो ज्ञानी जग मांहि ॥"

यह कथन भी कथंचित् ऋजुसूत्रानुसारी है। जो साधक वर्तमान काल में सतत उपयोगवान्, अप्रमत्त तथा-विवेक युक्त होकर विहंग की तरह अनन्त ज्ञान रूपी आकाश में विचरण करता है, वस्तुतः ज्ञानी वही है और मुमुक्षु भी वही है। वर्तमान कालीन जीवन को सफल बनाना ही इस नय का मुख्य उद्देश्य है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—'जो सीधे ढग से वस्तु को मुक्ता-फल की तरह एक सूत्र मे पिरोए, वह श्रुत ज्ञान विशेष ऋजुसूत्र कहलाता है।'—१

जो मोती के वर्त्तमान क्षण में विद्ध हैं, वस्तुत वे ही, एक लडी मे पिरोये जा सकते हैं—दूसरे प्रकार के नहीं। इसी प्रकार अतीत क्षण की पर्याय भग्न मोती के समान है और अनागत क्षण की पर्याय अविद्ध मोती के सदृश हैं। अत दोनो तरह के मोती हार मे पिरोने के अयोग्य है। केवल विद्ध मोती ही सूत्र मे पिरोया जा सकता है। वह है वर्त्तमान पर्याय, जिसको ऋजुसूत्र-नय का विषय कहते हैं। सीधे ढग से केवल वर्त्तमान पर्याय ही ग्राह्य है, और यही कार्य-साधक है। इसके सिवाय अतीत और भावी मे किसी भी कार्य की सिद्धि नही हो सकती। जैसे—इस घट मे घृत था, और उसमे मधु। अस्तु, इस घट मे घृत डालेंगे, और उसमे मधु। उक्त रिक्त घट को देखकर घृताकांक्षी तथा मधु के इच्छुक की आशा पर तुषारपात हो जाता है, उनसे मनोरथ सफलीभूत नही हो सकता, किन्तु वर्त्तमान क्षण-वर्ती घृत-घट तथा मधु-घट से ही कार्य की सिद्धि हो सकती है।

१—ऋजुम्-अवक्र वस्तु सूत्रयतीति ऋजु सूत्र।'

— नय प्रदीप

भेद प्रतीत तथा अनागत पर्याय कुटिल होने के कारण वर्तमान में नहीं है। जो वर्तमान में नहीं है वह कथंचित् असत् है जैसे—जिसके सींग नहीं आए उसे शृङ्गी नहीं कहा जा सकता है। जिस कुंजर के दांत नहीं आए, उसे दन्ती नहीं कहा जा सकता है। जन्म-जात को उसे भाव-श्रमण नहीं कहा जाता है, वैसे ही भ्रष्टाचारी को भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिसका जीवन श्रमणत्व से ओत प्रोत हो वही भाव-श्रमण है।

लौकिक व्यवहार में जो जन्म-काल से दरिद्रता की दासता में रहा हो या कोई दिवालिया हो तो दोनों को धनाढ्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिसके पास धन-राशि विद्यमान है उसे ही धनाढ्य कहा जाता है। एक व्यक्ति है जो अभी तक निरक्षर भट्टाचार्य है परन्तु भविष्य में विद्वान बनेगा। दूसरा व्यक्ति अनभ्यास के कारण कण्ठस्थ विद्या बिल्कुल भूल गया। वर्तमान में दोनों से कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती फलत उन्हें विद्वान भी नहीं कहा जा सकता। जिसके मस्तिष्क मे प्रष्टव्य विषय रेडियम की भाँति वर्तमान में प्रतिभासित हो रहा हो उसे ही विद्वान कहा जाता है। अत ऋजुसूत्र का विषय वर्तमान पर्याय है।

षष्ठ स्वप्न

छठे स्वप्न मे कहा— भूत और भविष्य की अपेक्षा न करके वर्तमान पर्याय मात्र को ही जो ग्रहण करे, उसे

'ऋजुसूत्र नय' कहते हैं।"—१

मनुष्य अनेक बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक जाता है, केवल वर्त्तमान काल को ही अपना प्रवृत्ति क्षेत्र बना लेता है। ऐसी परिस्थिति मे उसके मस्तिष्क मे ऐसी प्रतीति होने लगती है कि जो वर्तमान मे है, वही सत्य है। अतीत और अनागत वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नही रहता। इसका अर्थ यह नही, कि वह अतीत और अनागत का निषेध करता है, किन्तु प्रयोजन के अभाव मे उनकी ओर उदासीनता अवश्य है।

ऋजुसूत्र-नय के मत से वस्तु की प्रत्येक अवस्था मे भेद है। प्रत्येक अवस्था अपने-अपने क्षण तक ही सीमित है, फिर चाहे वह अवस्था इस क्षण की हो, या दूसरे क्षण की। "स्फटिक रत्न श्वेत है," इस वाक्य मे प्रस्तुत नय का कहना है, कि स्फटिक रत्न, स्फटिक रत्न है, और श्वेतता, श्वेतता है। क्योकि स्फटिक रत्न और श्वेतता भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। यदि स्फटिक रत्न और श्वेतता एक अवस्था होती, तो सगमरमर भी श्वेत होने के नाते स्फटिक रत्न हो जाता, क्योकि वह भी श्वेत है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति मे वर्णित है कि सूर्य सदैव वर्त्तमान मे क्रिया करता है। वैसे तो क्रिया वर्त्तमान मे ही हुआ करती है, फिर भी सूत्रकार ने विशेषता बतलाने के लिए

१—सता साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञान ऋजुसूत्र ।

— तत्त्वार्थ भाष्य

मात्र कथन किया है, क्योंकि सूक्ष्म की वर्तमान प्रति-विधि से ही समय का प्रारम्भ होता है। एक समय को वर्तमान कहते हैं इसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र भी कहते हैं और यह वर्तमान सबसे छोटा माना गया है।

यह नय क्षणिक-वाद में विश्वास रखता है अत एव प्रत्येक अवस्था को अस्थायी मानता है। काल-भेद से वस्तु में भेद मानता है अतः यह द्रव्यार्थिक न होकर पर्यायार्थिक नय है—यह मान्यता दार्शनिकों की है। परन्तु आगमकारों की मान्यतानुसार ऋजुसूत्र-नय भी द्रव्यार्थिक नय है। या द्रव्यार्थिक नय है यह चारों निक्षेपों को मानता है। साकार उपयोग और अनाकार उपयोग इन दोनों में से एक काल में एक ही उपयोग मानना यह मान्यता भी ऋजुसूत्र नय के ऊपर ही अवलम्बित है।

सप्तम छात्र

सातवें छात्र ने कहा—जो विचार भूत और भविष्यत् का संकल्प न करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है, वह 'ऋजुसूत्र-नय' है। —१

ऋजुसूत्र-नय द्रव्य-निक्षेप में वर्तमानकालिक अर्थ को मानता है, भूत और भावी निक्षेप को नहीं। यह नय वस्तुतः द्रव्यार्थिक है, पर्यायार्थिक तो कथंचित् ही कह सकते हैं। यदि ऋजुसूत्र-नय को पर्यायार्थिक-नय कहा जाए, तो यह

१—"पच्चुप्पण्णग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वोत्ति।"
—अनुयोगद्वार विशेषावश्यक भाष्य

मान्यता मूल-सूत्र के विरुद्ध है, क्योकि अनुयोगद्वार सूत्र में एक पाठ आता है—"उज्जुसूअस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सय पुहत्त णेच्छइत्ति।" इस सूत्र से सिद्ध होता है कि नैगम से लेकर ऋजुसूत्र-नय तक चार नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योकि पर्यायार्थिक-नय केवल भाव-निक्षेप को ही मानता है, और द्रव्यार्थिक-नय चारो ही निक्षेप को स्वीकार करता है। यदि कोई आगम-पाठी उपयोग-शून्य होकर आगम का स्वाध्याय कर रहा है, तो उसे भी यह द्रव्य-आगम मानता है, तथा लिपि-बद्ध आगम को भी द्रव्य-आगम मानता है। यह नय काल को अप्रदेशी मानता है, जबकि व्यवहार-नय काल को अनन्त मानता है।

इस नय की पूर्ण दृष्टि वर्तमान पर रहती है, क्योकि इस नय का विषय वर्तमान काल से ही सम्बन्धित है। जिस प्रकार काल भेद से वस्तु-भेद की मान्यता है, उसी प्रकार देश-भेद से भी वस्तु-भेद की मान्यता है।

भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए धन्य अनगार को चौदह हजार साधुओ मे सर्वश्रेष्ठ साधक कहा था। यह कथन ऋजुसूत्र-नय के अनुसार था। क्योकि उस समय अन्य मुनियो की अपेक्षा से धन्य अनगार की साधना सबसे विशुद्ध थी। इसलिए भगवान् ने धन्य अनगार की साधना की भूरि-भूरि प्रशसा की।

ऋजुसूत्र-नय के सम्बन्ध मे सातो छात्रो की विशद व्याख्या सुनने के बाद अध्यापक ने भी उक्त विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा—

अध्यापक

प्रिय छात्रो ! यद्यपि तुमने ऋजुसूत्र-नय का बहुत कुछ विवेचन भिन्न-भिन्न शैली से किया है तथापि उसके सम्यक् विषय को स्पष्ट करने के लिए, तथा जो तुम्हारी स्मृति पथ में आवश्यकीय प्रतिपाद्य विषय प्रतिभासित नहीं हो सका उसे स्मरण करवाने के लिए मैं स्पष्ट करता हूँ। ध्यान-पूर्वक सुनिए—

'पर्याय की अवस्थिति वर्तमान काल में ही होती है। भूत और भविष्यत् काल में तो द्रव्य ही रहता है।

सामान्य अथवा अभेद को विषय करने वाले नय को 'द्रव्यार्थिक-नय कहते हैं और भेद अथवा पर्याय (विशेष) को विषय करने वाले नय को 'पर्यायार्थिक-नय कहते हैं। श्री जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का अनुसरण करने वाले सैद्धान्तिक विद्वान द्रव्यार्थिक-नय के चार भेद मानते हैं और पर्यायार्थिक-नय के तीन भेद। परन्तु सिद्धसेन दिवाकर आदि तार्किकों के मतानुयायी द्रव्यार्थिक के तीन भेद और पर्यायार्थिक के चार भेद मानते हैं। द्रव्यार्थिक-नय का स्थान नित्य है और पर्यायार्थिक-नय का अनित्य। द्रव्य से पर्याय सूक्ष्म है क्योंकि एक ही द्रव्य में अनन्त पर्याय हैं अर्थात्—अनादि अनन्त पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है।

पर्याय दो प्रकार की होती है—(क) द्रव्य-पर्याय और (ख) गुण-पर्याय। द्रव्यों की पयाय भी दो प्रकार की होती है— (क) स्वाभाविक और (ख) वैभाविक। यही क्रम गुणों की पर्याय का भी है। इसका संक्षिप्त विवरण इस

प्रकार से है—

जीव की भव-पर्याय वैभाविक है, और सिद्धत्व-पर्याय स्वाभाविक। यह है—जीव-द्रव्य की पर्याय।

तीन अज्ञान गुण—वैभाविक पर्याय हैं, और पाँच ज्ञान—स्वाभाविक पर्याय है। कषायात्मा और योगात्मा वैभाविक पर्याय हैं। शेष आत्माएँ—स्वाभाविक। औदयिक भाव की परिणति—वैभाविक पर्याय है, और औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव की परिणति—स्वाभाविक पर्याय हैं।

दु खानुभव तथा भौतिक सुखानुभव दोनो ही वैभाविक पर्याय है, और आध्यात्मिक सुख—स्वाभाविक। ये सभी पर्याय जीव-द्रव्य के गुणो की हैं।

पुद्गलास्तिकाय की पर्याय दो प्रकार होती हैं, जैसे—(क) विश्रसा, तथा (ख) प्रयोगज। विश्रसा का अर्थ है—स्वय, अर्थात्—स्वाभाविक रूप से पर्याय पलटना। प्रयोगज का अर्थ है—जीव की वैभाविक पर्याय के साथ-साथ जो पुद्गल परिवर्तित होता है, अर्थात्—एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक यावन्मात्र जीव हैं, वे सब वैभाविक पर्याय वाले हैं। उनके द्वारा पुद्गलो मे जो परिवर्तन होता है, वह पुद्गल की प्रयोगज पर्याय कहलाती है। उदाहरण के रूप मे लीजिए—

जितनी भी धातुएँ हैं—रत्न, पाषाण, एव मणि आदि, वे सब पृथ्वीकाय के शरीर हैं। यदि पृथ्वी-कायिक जीवो का अस्तित्व न होता, तो उपर्युक्त वस्तुओ का बिल्कुल ही अभाव होता।

इसी प्रकार बीज अंकुर पत्र पुष्प फल वृक्ष काष्ठ आदि वनस्पति-कायिक जीवों के प्रयोगज पर्याय हैं। सीप शंख मोती रेशम मणि मद्य विष शरीर एवं शरीर-गत धातु तथा जितनी भी उपधातुएँ हैं वे सभी त्रस प्राणियों के द्वारा परिवर्तित की हुई पुद्गल पर्याय हैं जिन्हें हम प्रयोगज पर्याय कहते हैं।

एकत्व पृथक्त्व संख्या संस्थान संयोग विभाग आदि पुद्गल-द्रव्य की पर्याय कहलाती है। वर्ण गन्ध रस और स्पर्श तथा इनकी षड्गुण हानि-वृद्धि गुण-पर्याय है। पर्याय की अवस्थिति वर्तमान में ही होती है भूत और भविष्यत् काल में तो केवल द्रव्य ही रहता है। ऋजुसूत्र-नय क्षणिक-वाद में विश्वास रखता है, इसलिए वह प्रत्येक वस्तु को अस्थायी मानता है।

प्रश्न—बौद्ध-दर्शन क्षणिक-वाद को मानता है और प्रस्तुत नय भी वर्तमान काल में होने वाली पर्याय को ही मानता है भूत और भविष्यत् को नहीं मानता तो इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—क्षणिकवादी बौद्ध-दर्शन द्रव्य की सत्ता मानने में बिल्कुल इन्कार करता है और केवल पर्याय को ही अपने दृष्टिकोण में रखता है किन्तु ऋजुसूत्र-नय वस्तु की सत्ता का अपलाप नहीं करता बल्कि उसे गौण मानता है और पर्याय को मुख्य। यही दोनों में अन्तर है। अतीत काल की पर्याय प्रध्वंसाभाव में सम्मिलित हो गई, और भविष्यत् की पर्याय प्रागभाव में गर्भित है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में

उक्त दोनो का सद्भाव नही। जिसका वर्त्तमान में सद्भाव नही है, उसका ग्रहण भी कैसे किया जा सकता है।

प्रश्न—सूत्र मे परमाणु-गत वर्ण, गध, रस तथा स्पर्श का वर्णन तो पर्याप्त मिलता है, परन्तु इस विषय मे कतिपय आचार्यों की धारणाएँ ऐसी चली आ रही है कि वर्त्तमान कालिक परमाणु मे जो वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श हैं, वे सदा काल-भावी हैं। उन गुणो में कोई परिवर्तन नही होता है।

जो वर्त्तमान काल में जघन्य-गुण काला है, वह सदैव ही जघन्य-गुण काला रहेगा, और जो उत्कृष्ट-गुण काला है, वह उत्कृष्ट-गुण काला ही रहेगा। जघन्य-गुणी—उत्कृष्ट गुणी नही बन सकता, और उत्कृष्ट गुणी—जघन्य गुणी नही बन सकता।

कतिपय आचार्यों की धारणाएँ उपर्युक्त मान्यता के बिल्कुल विरुद्ध हैं। उनका अभिमत है कि परमाणु में जो वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वर्तमान काल में हैं, कालान्तर मे वे अन्य वर्ण, गन्ध, रस, तथा स्पर्श के रूप मे परिणत हो जाते हैं। जो जघन्य-गुण काला है, वह कभी उत्कृष्ट-गुण काला भी हो सकता है। और जो उत्कृष्ट-गुण काला है, वह कालान्तर मे जघन्य-गुण काला भी हो सकता है। यही बात गन्ध, रस, तथा स्पर्श के विषय मे भी है।

प्रश्न—इन दोनो परम्पराओ मे कौन सी धारणा आगम-सम्मत है?

उत्तर—जैन-धर्म अनेकान्तवादी है। विश्व में बडे से

बड़ा और छोटे से छोटा ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिस पर अनेकान्त-वाद की अमिट छाप न लगी हो अर्थात्—सकल पदार्थ पर अनेकान्त-वाद का अनुशासन अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल पर्यन्त रहेगा। —अनेकान्त वाद पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बतलाता है। पदार्थ का जैसा स्वरूप है उसका वैसा ही प्रतिपादन करने वाला है। समय क्रम के अनुसार जो घड़ी सूर्य का अनुसरण करती है वही घड़ी ठीक मानी जाती है। सूर्य का अनुसरण तो घड़ी ही करती है न कि सूर्य घड़ी का। क्योंकि मनुष्य-कृत यंत्र होने के कारण घड़ी रुक भी सकती है और घड़ी की सूई आगे पीछे भी की जा सकती है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि घड़ी रुक गई तो सूर्य भी रुक जाएगा और घड़ी की सूई को आगे-पीछे करने से सूर्य भी आगे-पीछे हो जाएगा।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो घड़ी सूर्य के अनुकूल चलती है वही घड़ी जनता के लिए प्रामाणिक सिद्ध हो सकती है। फिर उपचार से हम यह भी कह सकते हैं कि सूर्य ठीक घड़ी के अनुसार ही चलता है। बस इसी का नाम अनेकान्त-वाद है और जो विचार-धारा ठीक वस्तु-तत्त्व का अनुसरण करती है वही विचार पद्धति अनेकान्त-वाद है। जो मनुष्य अपनी घड़ी की सूई को पीछे हटाता है या आगे बढ़ाता है अथवा घड़ी को रोकता है इस आशय से कि सूर्य भी विलम्ब से उदय हो या जल्दी उदय हो अथवा कुछ क्षणों के लिए सूर्य भी रुक जाए, तो ऐसा समझना मिथ्यात्व है। मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति पदार्थों पर अपने बनाए हुए

सिद्धान्तो का मुहर छाप लगाना चाहता है, अर्थात् सभी पदार्थ मेरे ही अनुशासन मे चलें, पर ऐसा होना असम्भव है। वास्तव मे पाँच और पाँच दश कहना प्रामाणिक है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति गणितानभिज्ञ है, और वह पाँच और पाच को 'नौ' या 'ग्यारह' कहे, तो वह अनभिज्ञो मे भले ही प्रतिष्ठा प्राप्त करले, किन्तु उसका कथन तीनो काल मे गलत ही रहेगा, ऐसा विशेषज्ञो का अभिमत है। बस, इसी का नाम एकान्त-वाद या असम्यग्वाद है।

जैन-दर्शन प्रत्येक पदार्थ मे तीन अवस्थाएँ मानता है। जैसे —द्रव्य, गुण, और पर्याय। द्रव्य और गुण ये दो तो स्थायी हैं, किन्तु पर्याय परिणमनशील है। पर्याय द्रव्य की भी होती है, और गुण की भी। द्रव्य और गुण को छोडकर पर्याय कोई अलग पदार्थ नही है। जैन-दर्शन, वशेपिक दशन की भाँति परमाणु को ऐसा नही मानता कि—वह सदा काल पृथ्वी-रूप ही है, जल-रूप ही है, तेजोरूप ही है या वायु-रूप ही है, अथवा द्वचणुकादि-उत्पत्ति काल मे वह परमाणु क्षण मात्र निर्गुण भी वन जाता है।

जैन-दशन तो परमाणु को परिवर्तनशील ही मानता है, अर्थात्—एक परमाणु मे पांच वर्णो मे से एक वर्ण, दो गन्धो म से एक गन्ध पॉच रसो मे से एक रस, तथा आठ स्पर्शों मे से दो स्पर्श होते है। शीत-रूक्ष या उष्ण-रूक्ष, तथा शीत-स्निग्ध या उष्ण-स्निग्ध, इन चार विकल्पो मे से कोई-सा भी स्पर्श-विकल्प पाया जा सकता है, परन्तु कर्कश या मृदु, और हल्का या भारी य चार स्पर्श परमाणु मे नही पाए जाते हैं।

वर्तमान में यदि परमाणु काला है तो वह कालान्तर में सफेद लाल तथा पीले रूप में भी परिणत हो सकता है। दुर्गन्ध सुगन्ध के रूप मे और सुगन्ध दुर्गन्ध के रूप में परिणत हो सकता है। जिसका रस मीठा है वह कटु रूप में कटुक रूप में तथा तिक्त रूप में परिणत हो सकता है। जो शीत-रूक्ष-स्पर्श वाला है वह कालान्तर में उष्ण स्निग्ध के रूप में भी परिणत हो सकता है। इसी प्रकार जो जघन्य-गुण उष्ण-स्निग्ध है वह कालान्तर में उत्कृष्ट-गुण उष्ण स्निग्ध भी हो सकता है। और जो उत्कृष्ट-गुण उष्ण-स्निग्ध है वह जघन्य गुण-उष्ण स्निग्ध स्पर्श वाला भी हो सकता है। क्योंकि व्याख्या प्रज्ञप्ति में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वयं भगवान् ने प्रतिपादन किया है कि— 'परमाणु पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है और पर्याय से अशाश्वत है अर्थात्—द्रव्य-पर्याय और गुण-पर्याय दोनों ही अशाश्वत हैं। क्योंकि पर्याय उत्पाद और व्यय पर निर्भर है। द्रव्य और गुण ये दोनों ध्रौव्य पर निर्भर है। ध्रौव्य सदा शाश्वत है और उत्पाद तथा व्यय ये दोनों सदा अशाश्वत हैं।

परमाणु मे द्रव्य-पर्याय और गुण-पर्याय अनन्त हैं। उनमें सख्यात पर्यायों का आविर्भाव रहता है और शेष अनन्त पर्यायों का तिरोभाव। द्रव्य की सत्ता का सर्वथा निषेध करके केवल पर्याय मात्र को ही मानना यह 'ऋजु सूत्र नयाभास' है।

सिद्धान्तो का मुहर छाप लगाना चाहता है, अर्थात् सभी पदार्थ मेरे ही अनुशासन मे चले, पर ऐसा होना असम्भव है। वास्तव मे पाँच और पाँच दश कहना प्रामाणिक है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति गणितानभिज्ञ है, और वह पाँच और पाच को 'नौ' या 'ग्यारह' कहे, तो वह अनभिज्ञो मे भले ही प्रतिष्ठा प्राप्त करले, किन्तु उसका कथन तीनो काल मे गलत ही रहेगा, ऐसा विशेषज्ञो का अभिमत है। बस, इसी का नाम एकान्त-वाद या असम्यग्वाद है।

जैन-दर्शन प्रत्येक पदार्थ मे तीन अवस्थाएँ मानता है। जैसे—द्रव्य, गुण, और पर्याय। द्रव्य और गुण ये दो तो स्थायी हैं, किन्तु पर्याय परिणमनशील है। पर्याय द्रव्य की भी होती है, और गुण की भी। द्रव्य और गुण को छोडकर पर्याय कोई अलग पदार्थ नही है। जैन-दर्शन, वैशेषिक दर्शन की भाँति परमाणु को ऐसा नही मानता कि—वह सदा काल पृथ्वी-रूप ही है, जल-रूप ही है, तेजोरूप ही है या वायु-रूप ही है, अथवा द्वचणुकादि-उत्पत्ति काल मे वह परमाणु क्षण मात्र निर्गुण भी बन जाता है।

जैन-दर्शन तो परमाणु को परिवर्तनशील ही मानता है, अर्थात्—एक परमाणु मे पाँच वर्णों मे से एक वर्ण, दो गन्धो मे से एक गन्ध पाँच रसो मे से एक रस, तथा आठ स्पर्शों मे से दो स्पर्श होते है। शीत-रूक्ष या उष्ण-रूक्ष, तथा शीत-स्निग्ध या उष्ण-स्निग्ध, इन चार विकल्पो मे से कोई-सा भी स्पर्श-विकल्प पाया जा सकता है, परन्तु कर्कश या मृदु, और हल्का या भारी ये चार स्पर्श परमाणु मे नही पाए जाते हैं।

शब्द-नय

कालादि-भेदेन ध्वनेरर्थ-भेद
प्रति-पद्यमान शब्दः

— प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ७–१२,

ऋजु-सूत्र-नय

एकस्मिन् समये वस्तु-
पर्याय यस्तु पश्यति ।
ऋजु-सूत्रो भवेत् सूक्ष्म
स्थूल स्थूलार्थ-गोचर ॥

—नय-चक्र

ऋजु सूत्र नय दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म ऋजु
और स्थूल ऋजु सूत्र। जो मात्र एक समय की ही
ाय को ग्रहण करता है, वह सूक्ष्म ऋजु सूत्र है। जो
न द्रव्य-पर्याय को ग्रहण करता है, वह स्थूल ऋजु
है।

शब्द-नय

कालादि-भेदेन ध्वनेरर्थ-भेद
प्रति-पद्यमानः शब्दः

— प्रमाण-नय तत्त्वालोक ७—३२,

अर्थं शब्द-नयोऽनेकैः, पर्यायैरेकमेव च ।
मन्यते कुम्भ-कलश-घटाद्येकार्थ-वाचकाः ॥

— नय कर्णिका, १४

"शब्द-नय अनेक पर्याय, अर्थात्–अनेक शब्दो द्वारा सूचित वाच्यार्थ को एक ही पदार्थ समझता है, यथा—कुम्भ, कलश और घट आदि शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं ।"

: ११

शब्द नय

ऋजुसूत्र-नय विषयक वक्तव्य समाप्त करके अध्यापक ने छात्रों को शब्द नय का विवेचन करने के लिए प्रेरित किया। तदनुसार छात्रों ने अपने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा कि— 'शप् आक्रोशे शपनमाह्वान मिति शब्द । —१

अर्थात्—शप् धातु से 'शब्द' बनता है। अपने अभिप्राय को दूसरे के सामने व्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन 'शब्द' ही है। अभिप्राय-पूर्वक शब्द का प्रयोग समष्टि में सीखा जाता है व्यष्टि में नहीं। शब्द के दो भेद हैं—

(क) ध्वन्यात्मक (ख) और वर्णात्मक।

(क) ध्वन्यात्मक—जैसे टैलीग्राफ की टक-टक घड़ी का

१—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

वजना, घडी का अलाम और मोटर का हॉर्निङ्ग, आदि विभिन्न प्रकार की ध्वनियां, इसे अनक्षर-श्रुत भी कहते हैं।

(ख) 'वर्णात्मक-शब्द' अथवा 'अक्षर-श्रुत भाषा-विशेष कहलाता है। वस्तुत शब्द-नय का साम्राज्य अक्षर-श्रुत पर निर्भर है। अक्षर-श्रुत मे भी ऋजुसूत्र-नय से शब्द-नय का क्षेत्र बहुत कुछ सीमित है। ऋजुसूत्र-नय लिंग-भेद से अर्थ मे भेद नही मानता। जैसे—तट, तटी, तटम्। इन तीनो वाचको का वाच्य एक ही है, किन्तु शब्द-नय लिंग-भेद से अर्थ-भेद मानता है। भाव-निक्षेप के विना नाम, स्थापना तथा द्रव्य-निक्षेप को शब्द-नय स्वीकार नही करता, क्योकि उपर्युक्त तीनो निक्षेप भाव-निक्षेप से भिन्न क्षेत्र मे भी पाए जा सकते हैं। किन्तु भाव-निक्षेप के अन्तर्गत जो नाम, स्थापना और द्रव्य-निक्षेप है, उन्हे कथंचित् स्वीकार कर लेता है। जैसे—भाव तीर्थङ्कर मे नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीनो निक्षेप गर्भित हो जाते है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय, यह एक द्रव्य-विशेष का वाचक है, यह 'नाम-निक्षेप' हुआ। उसका आकार लोकाकाश जितना है, यह 'स्थापना-निक्षेप' हुआ। द्रव्य होने के नाते 'द्रव्य-निक्षेप' भी है, और गति-धर्म होने से 'भाव-निक्षेप' तो है ही। इस प्रकार शब्द-नय मे भी चारो निक्षेप पाए जा सकते हैं, किन्तु भाव-निक्षेप-विहीन, आदि के तीन निक्षेप शब्द-नय को सर्वथा अमान्य हैं।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"शपति वाऽऽह्वयतीति शब्द ।"—१

१—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

अर्थात्—जिससे किसी को बुलाया जाए या किसी संकेत के द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त किया जाए, वह 'शब्द' कहलाता है। वैसे तो बधिर तथा मूक भी अपनी चेष्टाओं के द्वारा अपने भाव दूसरे के समक्ष रख सकता है फिर भी शब्दों के द्वारा जितने स्पष्ट रूप में भाव व्यक्त किया जा सकता है उतने स्पष्ट रूप मे अन्य किसी चेष्टा के द्वारा नहीं किया जा सकता है। शब्दों के रूप मे श्रुत ज्ञान ही परिणत हो सकता है शेष ज्ञान नही। शेष ज्ञान तो सदैव मूर्क रूप में ही रहते हैं। शब्द-शास्त्र का सूत्रकार 'शब्द-नय है। अतः वो नय भी शब्द-नय कहलाते हैं।

शब्द नित्य है, या अनित्य ? इस प्रश्न का उत्तर सप्त भंगी के तीसरे भंग से अर्थात्—नित्यानित्य से दिया जा सकता है। वस्तुत शब्द द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य है।

महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से आगम रूप में वर्णात्मक शब्द अनादि अनन्त है किन्तु भरत-क्षेत्र एवं ऐरावत-क्षेत्र की अपेक्षा से सादि-सान्त है। यह नय शब्दों की गहराई में बहुत कुछ उतर जाता है। जैसे कोई आगम-धर श्रुत ज्ञानी यदि उपयोग-पूर्वक किसी आगम का स्वाध्याय कर रहे हों तो उच्चारित किये जाने वाले शब्द को आगम मानता है और उच्चारण करने वाले को आगम-धर श्रुत ज्ञानी मानता है। यदि उपयोग-पूर्वक उच्चारण नहीं कर रहे हों तो उच्चार्यमाण शब्द को न आगम ही मानता है और न उच्चारण करने वाले को आगम-धर ही मानता है। यह

'शब्द-नय' पुस्तक रूप जो आगम है, उन्हे आगम नही मानता, अपितु उपयोग-पूर्वक स्वाध्याय को ही आगम मानता है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"कालादिभेदेन ध्वनेरर्थ-भेद प्रतिपद्यमान शब्द-नय।"—१

अर्थात्—काल आदि के भेद मे शब्दो मे अर्थ-भेद के प्रतिपादन करने वाले नय को 'शब्द-नय' कहते हैं।

शब्द के द्वारा अर्थ ग्रहण करने पर नय को शब्द-नय कहते है। जैसे—'कृतकत्वात्', यह पचम्यन्त शाब्दिक हेतु है, किन्तु आर्थिक हेतु तो अनित्यत्व-युक्त घट आदि पद-वाच्य हैं। वस्तुत हेतु तो मुख्यतया आर्थिक ही है, किन्तु उपचार से कृतकत्वात् यह पचम्यन्त पद भी हेतु कहलाता है, और यह नय भी शब्द पर ही निभर होने से 'शब्द-नय' कहलाता है। इस नय का साम्राज्य जाति-वाचक, गुण-वाचक और क्रिया-वाचक शब्दो पर है, न कि व्यक्ति-वाचक शब्दो पर। इसी कारण आदि के तीन निक्षेप—'शब्द-नय' को अमान्य हैं। समस्त वाङ्मय की आधार-शिला 'शब्द-नय' है, यह कथन असत्य नही है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"शप्यते वा आहूयते वस्त्वनेनेति शब्द।"—२

१—प्रमाण-नय तत्त्वालोक

२—नय-सार।

अर्थात्—जिसके द्वारा वस्तु-तत्त्व का आह्वान किया जाए, उसे 'शब्द' कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानी जिस सूक्ष्म या अति-सूक्ष्म पदार्थ को अति दूरस्थ होते हुए भी बिना किसी निमित्त के हस्तामलक की तरह अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष करते हैं, उसी को अस्मादृश अल्पज्ञ जीव 'शब्द' के द्वारा ही जान सकते हैं। किन्तु उस शब्द का शक्ति-ग्रह होना चाहिए। शब्द यथातथ्य अर्थ का बोधक होते हुए भी आभ्यन्तरिक कारण श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होना भी आवश्यक है तभी हम शब्द के द्वारा समस्त द्रव्यों को तथा उनकी समस्त पर्यायों को जान सकते। वास्तविक श्रुत तो श्रुत ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम ही है किन्तु उपचार से शब्द का भी श्रुत कहा जा सकता है। शब्द-शास्त्र में शब्द व्युत्पत्ति के चार प्रकार बतलाए हैं जैसे—(क) यौगिक (ख) रूढ (ग) योगरूढ और (घ) यौगिकरूढ।

यौगिक—जो शब्द अवयव अर्थ का ही बोधक हो वह यौगिक कहलाता है यथा—पाचक, वाचक, पाठक आदि।

रूढ—जो शब्द अवयव शक्ति के बिना समुदाय शक्ति मात्र से अर्थ का बोधक हो वह 'रूढ' कहलाता है यथा—गोमण्डल। यहाँ 'गो' और 'मण्डल' का अवयव अर्थ छोड़कर समुदाय-शक्ति सूर्य के चारों ओर कुण्डलाकार परिधि में निहित है।

योग रूढ—जहाँ अवयव शक्ति के विषय में समुदाय

शक्ति भी अपना अस्तित्व अलग रखती हो, वह 'योग-रूढ' कहलाता है, यथा—पकज। यह शब्द 'पक' मे उत्पन्न होने वाले कर्तृत्व रूप अर्थ का बोधक है। समुदाय शक्ति के साथ रूढ होने से पद्म का बोधक है, क्योकि पक मे तो कृमि आदि की उत्पत्ति भी होती है। किन्तु पकज पद्म के लिए ही रूढ है, अन्य के लिए नही। इसी प्रकार चन्द्रहास, जिसकी चमक चन्द्रमा की तरह हो, वह चन्द्रहास है। किन्तु यह शब्द खड्ग के लिए ही 'रूढ' है।

यौगिक रूढ—जहाँ अवयव अर्थ और रूढ अर्थ, दोनो का ही स्वतन्त्रता पूर्वक बोध हो सके, वह शब्द 'यौगिक रूढ' कहलाता है। जैसे—उद्भिद् (उद्भेदन-कर्त्ता) तरु-गुल्म आदि का बोधक है, और याग-विशेष का भी। 'ऊर्ध्व भिनत्तीत्युद्भिद्', यहाँ अवयव शक्ति से तरु-गुल्म आदि में शक्ति निहित है, और समुदाय शक्ति से याग विशेष भी हो जाता है।

यदि किसी व्यक्ति-विशेष का नाम पवन है, तो कोशो मे वायु के जितने भी पर्याय-वाचक शब्द हैं, उनसे उस व्यक्ति विशेष को नही बुलाया जा सकता है, अर्थात्—वायु के समस्त वाचक उस पवन रूप व्यक्ति-विशेष के नाम नही हैं। अत यह नय नाम-निक्षेप को स्वीकार नही करता, और भाव के विना स्थापना एव द्रव्य-निक्षेप भी सर्वथा अमान्य है।

पचम छात्र

पाँचवे छात्र ने कहा—"शब्दाद् व्याकरणात्प्रकृति-प्रत्ययद्वारेण सिद्ध शब्द

अर्थात्— व्याकरण से प्रकृति प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न शब्द 'शब्द नय' कहलाता है।

शब्द शक्ति आठ प्रकार से जानी जा सकती है। जैसे—

(१) व्याकरण से—पूर्वप्रत्यय उणादि उत्तर कृदन्त तद्धित समास आर्ष निपातन मयूरव्यंसक आदि आकृतिगण और निरुक्त आदि से शब्दों की व्युत्पत्ति होती है। तिङ प्रत्ययान्त से धातु, क्रिया रूप में परिणत हो जाती है।

> द्वितीया कर्मणि ज्ञेया कर्त्तरि प्रथमा यदा।
> उक्तकर्तृ प्रयोगोऽयं न तदा चाक प्रयुज्यते ॥
> तृतीया कर्त्तरि यदा कर्मणि प्रथमा तदा।
> उक्त-कर्म प्रयोगोऽयं न तदा परस्मैपदम् ॥

इस प्रकार शब्द-शक्ति का विस्तृत परिचय व्याकरण से जाना जा सकता है।

(२) उपमान से— बाले य मदए मूढे बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि।

अर्थात्—धर्म कार्यों में आलस्य करने वाला मोह ग्रस्त अज्ञानी जीव कफ़मल में मक्खी की तरह संसार में फँस जाता है।—१

मह मनि मुणवया साहू जे तरंति अतर वणिया व।

अर्थात् "जो निर्मल चार महाव्रतों के पालने वाले हैं वे साधु ही विषय रूपी विशाल संसार समुद्र को पार करते

१—उत्तराध्ययन ८,

हैं। जैसे—व्यापारी लोग जहाज आदि साधनो के द्वारा दुस्तर और अथाह समुद्र को पार करते हैं।" —१

"रागाउरे से जह वा पयगे आलोयलोले समुवेइ मच्चु।"

जिस प्रकार पतगिया (मरवाया) दीपक की लौ पर गिरकर अनुरागवश मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो इष्ट-रूप मे आसक्ति रखता है, वह भी अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।—२

"कुम्मो इव गुत्तिन्दिया, विहग इव विप्पमुक्का।"

अर्थात्— साधक कच्छप की तरह गुप्त-इन्द्रिय होकर तथा पक्षी की तरह बन्धन रहित होकर विचरे।

"गो-सरिसो गवय", गौ के सदृश गवय होता है।

इस प्रकार शब्द-शक्ति उपमान के द्वारा जानी जा सकती है। कभी उपमान से उपमेय का ज्ञान होता है, और कभी उपमेय से उपमान का परिचय प्राप्त होता है।

(३) कोश से—अनेक शब्दो का एक अर्थ, और एक शब्द के अनेक अथ, तथा लिंग-भेद आदि शब्द-शक्ति कोश से जानी जा सकती है।

(४) आप्त-वाक्य से—'माणुस्स खु सुदुल्लह।' "विगिंच कम्मुणो हेउ जस सचिणु खतिए। सरीर पाढव हिच्चा, उड्ढ पक्कमए दिस' आदि परोक्ष तत्त्व बोधक आप्त-वाक्य ही हैं। आप्त का अर्थ—जिन, अरिहन्त, केवली है, उनका

१—उत्तराध्ययन ८ ६,

२—उत्तराध्ययन ३२ २४,

वाक्य आप्त-वाक्य कहलाता है अर्थात्—आगम प्रमाण इसी वाक्य में अन्तर्भूत है।

(५) व्यवहार से—शब्द-शक्ति व्यवहार से भी जानी जा सकती है। पिता अपने बड़े लड़के से कहता है कि—घड़ा ले आ! लड़का ले आया। पास ही एक छोटे बच्चे ने भी यह शब्द सुना और लाया हुआ घड़ा भी देखा तब वह जान लेता है कि इस चीज को घड़ा कहते हैं। समीप लाना यह क्रिया है। इन व्यावहारिक बातों और पदार्थों का ज्ञान नित्य प्रति व्यवहार में आए हुए शब्दों के ज्ञान से होजाता है।

(६) वाक्य शेष से—'पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे अयंतिय कूड-कहावणे वा। राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्घए होइ हु जाणएसु।'—१

जिस प्रकार खाली मुट्ठी और खोटा सिक्का असार है उसी प्रकार गुण-हीन साधु भी असार है। जिस प्रकार काच मणि वैडूर्य-मणि की तरह प्रकाशमान होती है परन्तु जानकार पुरुषों के सामने निश्चय ही वह अल्प मूल्य वाली हो जाती है उसी प्रकार द्रव्य-लिंगी साधु भी विवेकी पुरुषों से सराहनीय नहीं बन सकता।

इस गाथा के चौथे चरण से पूर्वोक्त तीन चरणों का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है अन्यथा उनका आशय समझना अत्यन्त कठिन था।

१—उत्तराध्ययन २०—४२,

(७) विवृत्ति से—किसी व्याख्याता ने अपने व्याख्यान में कहा—आत्मोन्नति, आत्म-विकास, तथा आत्मोत्क्रान्ति करना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है, अर्थात्—किसी शब्द का खुलासा करने के लिए अनेक पर्याय-वाचक शब्दों का प्रयोग करना—'विवृत्ति' कहलाता है।

(८) सान्निध्य से—सिद्धों की सन्निकटता से शिला का नाम भी सिद्ध-शिला पड़ गया है। सिद्ध-शिला का नाम ही सान्निध्य का द्योतक है।

इस प्रकार आठ कारणों से शब्द-शक्ति का ग्रहण होता है। इनके बिना शब्द-नय का अनुशासन नहीं चल सकता। अस्तु, ये हैं—शब्द-नय के मूल-भूत कारण।

षष्ठ छात्र--

छठे छात्र ने कहा—"यथार्थाभिधान शब्द" (भाव-मात्राभिधानप्रयोजकोऽध्यवसायविशेष), —१ अर्थात्—भाव-निक्षेप के अन्तर्गत अर्थ-कथन करना 'शब्द-नय' कहलाता है। शब्द-नय का प्रयोजन है—शब्द के द्वारा यथार्थ अर्थ प्रकट करना। सत्य-भाषा और व्यवहार-भाषा, इन्ही दो भाषाओं पर शब्द-नय का पूरा अनुशासन है। शब्द-नय—जाति-वाचक, गुण-वाचक, द्रव्य-वाचक और क्रिया-वाचक शब्दों को ही अपने काम में लाता है व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं को नहीं। यह है—शब्द-नय का बाह्य उपकरण। आभ्यन्तरिक उपकरण है—श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य अध्यवसाय विशेष।

१—नय सार

शब्द प्रधान होने से इस नय को 'शब्द-नय' कहते हैं। पद ज्ञान शब्द-बोध का कारण है। पदार्थ ज्ञान करण है। व्यापारवान् असाधारण कारण को करण कहते हैं जैसे—दण्ड चक्र और चीवर ये तीनों घट के प्रति असाधारण कारण हैं, किन्तु जब ये तीनों यथा-समय यथा-क्रम क्रिया कर रहे हों तब ये ही कारण करण कहलाते हैं। पद ज्ञान यदि कारण है तो पदार्थ ज्ञान करण है। वाक्यार्थ ज्ञान को शाब्द-बोध कहते हैं। शाब्द-बोध का लक्षण है—

'एकपदार्थेऽपर-पदार्थ-संसर्ग-विषयक ज्ञानं शाब्दबोधः'

अर्थात्—शाब्द-बोध में चार मुख्य कारण हैं, जैसे—

(क) आसत्ति ज्ञान (ख) योग्यता-ज्ञान (ग) आकांक्षा-ज्ञान और (घ) तात्पर्य ज्ञान।

आसत्ति-ज्ञान—इसका अर्थ है पदों की सन्निकटता। जैसे—'भगवान् ने कल्याणकारिणी देशना दी'—यदि इन्हीं पदों में से एक-एक पद प्रहर प्रहर में उच्चारण करेंगे तो शाब्द-बोध नहीं हो सकता।

योग्यता-ज्ञान—इसका अर्थ है—एक पदार्थ में अन्य पदार्थों का सम्बन्ध होना। जैसे—नम्बर पूर्वक निर्णय ही ज्ञान-प्रगति में सहायक है। इससे विपरीत यदि योग्यता का ज्ञान न हो तो—*निर्धन राजि को आहार करता है* 'बालक शिकार खेलता है' 'किसान अग्नि सींचता है' आदि वाक्य योग्यता ज्ञान विहीन हैं। अतः ये उपर्युक्त वाक्य शाब्द-बोध में कारण नहीं हैं।

आकांक्षा ज्ञान—इसका अर्थ है कि—जिस पद के

(७) **विवृत्ति से**—किसी व्याख्यान-दाता ने अपने व्याख्यान मे कहा—आत्मोन्नति, आत्म-विकास, तथा आत्मोत्क्रान्ति करना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है, अर्थात्—किसी शब्द का खुलासा करने के लिए अनेक पर्याय-वाचक शब्दो का प्रयोग करना—'विवृत्ति' कहलाता है।

(८) **सान्निध्य से**—सिद्धो की सन्निकटता मे शिला का नाम भी सिद्ध-शिला पड गया है। सिद्ध-शिला का नाम ही सान्निध्य का द्योतक है।

इस प्रकार आठ कारणो से शब्द-शक्ति का ग्रहण होता है। इनके बिना शब्द-नय का अनुशासन नही चल सकता। अस्तु, ये हैं—शब्द-नय के मूल-भूत कारण।

षष्ठ छात्र--

छठे छात्र ने कहा--"यथार्थाभिधान शब्द" (भाव-मात्राभिधानप्रयोजकोऽध्यवसायविशेष), —१ अर्थात्—भाव-निक्षेप के अन्तर्गत अर्थ-कथन करना 'शब्द-नय' कहलाता है। शब्द-नय का प्रयोजन है—शब्द के द्वारा यथार्थ अर्थ प्रकट करना। सत्य-भाषा और व्यवहार-भाषा, इन्ही दो भाषाओ पर शब्द-नय का पूरा अनुशासन है। शब्द-नय—जाति-वाचक, गुण-वाचक, द्रव्य-वाचक और क्रिया-वाचक शब्दो को ही अपने काम मे लाता है, व्यक्ति-वाचक सज्ञाओ को नही। यह है—शब्द-नय का बाह्य उपकरण। आभ्यन्तरिक उपकरण है—श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य अध्यवसाय विशेष।

१—नय सार

सप्तम छात्र—

मानव छात्र ने कहा—"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पन्न णओ सद्दो"—१

अर्थात्—जो विचार शब्द प्रधान होता हुआ शाब्दिक धर्मों की ओर झुककर तदनुसार ही अर्थ-भेद की कल्पना करता है वही वस्तुतः शब्द-नय कहलाता है। यह नय ऋजु सूत्र से विशुद्धतर है। शब्द-शक्ति तीन वृत्तियों में विभक्त है। जैसे—(क) अभिधा वृत्ति (ख) लक्षणा वृत्ति और (ग) व्यंजना वृत्ति।

वाच्यार्थ को जानने के लिए दो उपाय काम में लाए जाते हैं—मुख्य और अमुख्य। इनमें मुख्य शक्ति 'अभिधा' कहलाती है। जहाँ शब्द का सम्बन्ध सीधा अर्थ से स्थापित हो वह अभिधा कहलाती है अथवा सांकेतिक अर्थ बतलाने वाली शब्द-शक्ति को अभिधा कहते हैं। संकेत—जाति गुण द्रव्य और क्रिया में ग्रहण किया जाता है व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। द्रव्य से तात्पर्य संज्ञा-विशेष से है। संज्ञा के दो भेद हैं—(क) चिरन्तनी और (ख) तदभिधा। पद-द्रव्यों के नाम अनादि होने से चिरंतनी है। द्वितीय देवदत्त आदि एक-एक व्यक्ति। देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो—२ यह वाक्य अभिधा शक्ति के अन्तर्भूत है। आगमों में अभिधा-वृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

१—अनुयोग द्वार,

विना अथ स्मरण न हो सके, उस पद को आकाक्षा रहती है। जैसे--कारक-पदो मे क्रिया पद की आकाक्षा रहती है, और क्रिया-पद मे कारक-पद की। एक पाठक किसी पुस्तक को पढ रहा है। ज्यो-ज्यो पढता है, त्यो-त्यो एक पद से दूसरे पद की, फिर तीसरे पद की आकांक्षा होती है। कर्त्ता और कर्तृ-विशेषण, कर्म और कर्म विशेषण, करण और करण-विशेषण, क्रिया और क्रिया-विशेषण आदि एक पद दूसरे पद की आकाक्षा वढाता है। यदि एक पद थोडी देर के लिये ज्ञात न हो सके, तो बुद्धिमान पाठक उस पद की खोज के लिये व्याकुल हो जाता है। यही 'आकाक्षा-ज्ञान' का फल है। इसके विपरीत हाथी, घोडा, वैल आदि पद आकाक्षा-विहीन हैं।

तात्पर्य ज्ञान—इसका अर्थ है—वोलने वाले का अभिप्राय। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर प्रसगानुसार अनेकाथ वाचक शव्द का विवक्षित अर्थ करना। जैसे--प्रयोजक कर्त्ता ने कहा—'सैन्धव ले आओ'। तव प्रयोज्य कर्त्ता समयानुसार वक्ता के तात्पर्य का विचार करता है, कि यह रसोई का समय है, या सवारी का ? सैन्धव नमक का वाचक तो अवश्य है, किन्तु साथ ही घोडे का भी वाचक है। यदि तात्पर्य-ज्ञान शाब्द बोध मे कारण न हो, तो रसोई के समय घोडा ले आए, और सवारी के समय नमक।

उपर्युक्त चारो साधन शुद्ध होने पर ही वस्तु-तत्त्व का यथाथ ज्ञान हो सकता है। यह 'शब्द-नय' का मुख्य प्रयोजन है।

सप्तम छात्र—

सातवें छात्र ने कहा—"इच्चाइ विमेमियणर पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो —१

अर्थात्—जो विचार शब्द प्रधान होता हुआ शाब्दिक धर्मों की ओर मुड़कर तदनुसार ही अर्थ-भेद की कल्पना करता है वही वस्तुतः शब्द-नय कहलाता है। यह नय ऋजु सूत्र से विशुद्धतर है। शब्द शक्ति तीन वृत्तियों में विभक्त है। जैसे—(क) अभिधा वृत्ति (ख) लक्षणा वृत्ति और (ग) व्यंजना वृत्ति।

वाक्यार्थ को जानने के लिए दो उपाय काम में लाए जाते हैं—मुख्य और अमुख्य। इनमें मुख्य-वाचक 'अभिधा' कहलाती है। जहाँ शब्द का सम्बन्ध सीधा अर्थ के साथ हो वह अभिधा कहलाती है अथवा सांकेतिक अर्थ बतलाने वाली शब्द-शक्ति को अभिधा कहते हैं। संकेत—जाति गुण द्रव्य और क्रिया में ग्रहण किया जाता है व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। द्रव्य से तात्पर्य संज्ञा-विशेष से है। संज्ञा के दो भेद हैं—(क) चिरन्तनी और (ख) तद्भिन्ना। पद-द्रव्यों के नाम अनादि होने से चिरंतनी हैं। द्वितीय देवदत्त आदि एक-एक व्यक्ति। 'देवा वि त नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो'–२ यह वाक्य अभिधा शक्ति के अन्तर्भूत है। आगमों में अभिधा-वृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

१—अनुयोग द्वार,

२— दशवैकालिक १—१

'दुम-पत्तए पडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एव मणुयाण जीविय, समय गोयम ! मा पमायए ॥'—१

जहाँ मुख्यार्थ मे अन्वय या तात्पर्य की निष्पत्ति न हो सके, वहाँ अमुख्य व्यापार ग्रहण किया जाता है । इसी को 'लक्षणा-वृत्ति ' कहते है । जैसे—'गगाया घोष '—गगा मे कुटीर है । यहाँ गगा के मुख्य अर्थ की उपेक्षा करके—गगा के तट पर कुटीर है,' यह अर्थ लक्षणा से निकलता है । और 'कलिग साहसिक —कलिग साहसिक है । यहाँ लक्षणा से अर्थ निकलता है कि 'कलिग-देशवासी साहसिक है' । वगो भीरु ' अर्थात्—वग देश डरपोक है ।

'द्वादशाग वाणी मोक्ष निश्रेणी है । यहाँ निश्रेणी का सीढी अर्थ न लेकर—'द्वादशाग-वाणी में मोक्ष प्राप्त करने के अमोघ उपाय हैं'—यह अर्थ लक्षणा से निकलता है । और 'कुशान् दर्भान् लाति गृहणातीति कुशल ', अर्थात्—'कुशग्राही को कुशल कहते हैं ' इस अर्थ को न लेकर—'कुशग्राही की तरह चतुर', यह अर्थ लक्षणा से फलित होता है । व्यवहार मे भी ऐसा ही कहते हैं कि—'जरा रास्ते से बात कर' । इसका 'जरा सभ्यता से बात कर ' यह अर्थ फलित होता है । और 'उसने मेरी नाक काट ली,' तथा 'ऐसा करने से मेरी नाक रह सकती है । 'यहाँ नाक का अर्थ लक्षणा से 'प्रतिष्ठा' का होता है । ब्राह्मी और सुन्दरी ध्यानस्थ बाहुबली को कहतीहैं—
"बन्धव गज थकी उतरो, गज चढ्या केवल नही होसी रे ।"

१—उत्तराध्ययन, १०—१

यहाँ हाथी का अर्थ—लक्षणा से 'अभिमान' किया जाता है अर्थात्—अभिमान से उतर कर विनय धारण करो।

केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से प्रश्न पूछते हुए कहा—

> अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
> जंसि गोयम ! आरूढो कहं तेण न हीरसि ॥ —१

आप साहसिक भीम तथा दुष्ट घोड़े पर सवार हो रहे हो फिर वह आपको उन्मार्ग में क्यों नहीं ले जाता है?

यह प्रश्न लक्षणा से किया गया है। गौतम स्वामी ने उत्तर भी लक्षणा से ही दिया है। जैसे—

> पधावन्तं निगिण्हामि सुयरस्सी-समाहियं।
> न मे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जइ ॥ —२

मैं दुष्ट घोड़े को लगाम के द्वारा रोके रखता हूँ अतः वह उन्मार्ग पर न जाकर मार्ग पर ही रहता है।

अब प्रश्न पैदा होता है—क्या गणधर भी घोड़े की सवारी किया करते हैं? यहाँ अश्व-रूप मुख्य अर्थ न ग्रहण करके लक्षणा से दुष्ट अश्व-सदृश मन लिया है जिसको श्रुत ज्ञान-रूपी लगाम से वश में कर रखा है। इसलिए वह उन्मार्ग में नहीं ले जाता है यही अर्थ स्पष्ट होता है।

१—उत्तराध्ययन २३-५५,
२—उत्तराध्ययन २३-५६

'दुम-पत्तए पड्डुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जोविय, गमय गोयम ! मा पमायए ॥'—१

जहाँ मुख्यार्थ मे अन्वय या तात्पय की निष्पत्ति न हो सके, वहाँ अमुख्य व्यापार ग्रहण किया जाता है। इसी को 'लक्षणा-वृत्ति' कहते हैं। जैसे—'गगाया घोप'—गगा मे कुटीर है। यहाँ गगा के मुख्य अथ की उपेक्षा करके—गगा के तट पर कुटीर है,' यह अर्थ लक्षणा से निकलता है। और 'कलिग साहमिक —कलिग साहमिक है। यहा लक्षणा से अर्थ निकलता है कि 'कलिग-देशवासी साहसिक हैं'। 'वगो भीरु' अर्थात्—वग देश डरपोक है।

'द्वादशाग-वाणी मोक्ष निश्रेणी है। यहाँ निश्रेणी का सीढी अर्थ न लेकर—'द्वादशाग-वाणी में मोक्ष प्राप्त करने के अमोघ उपाय हैं'—यह अथ लक्षणा से निकलता है। और 'कुशान् दर्भान् लाति गृह्णातीति कुशल', अर्थात्—'कुशग्राही को कुशल कहते हैं,' इस अथ को न लेकर—'कुशग्राही की तरह चतुर', यह अर्थ लक्षणा से फलित होता है। व्यवहार मे भी ऐसा ही कहते हैं कि—'जरा रास्ते मे वात कर'। इसका 'जरा सभ्यता से वात कर' यह अर्थ फलित होता है। और 'उसने मेरी नाक काट ली,' तथा 'ऐसा करने से मेरी नाक रह सकती है।' यहाँ नाक का अर्थ लक्षणा से 'प्रतिष्ठा' का होता है। ब्राह्मी और सुन्दरी ध्यानस्थ वाहुवली को कहतीहैं—
"बन्धव गज थकी उतरो, गज चढ्या केवल नही होसी रे।"

१—उत्तराध्ययन, १०-१,

(३) साहचर्य से—'भीमार्जुनौ' पद से 'भीम' और 'अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी एक दूसरे के साहचर्य से कुन्ती के पुत्र ही लिए जाएँगे।

(४) विरोधिता—'कर्णार्जुनौ' से 'कर्ण' और 'अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी विरोध के कारण महाभारत के पात्र-विशेष में ही व्यंजना की गई है।

(५) अर्थ से—'जिनं वन्दे भवच्छिदे'। यहाँ 'जिन' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी 'भवच्छिदे' इस पद से 'जिनेश्वर' में ही व्यंजना रहती है।

(६) प्रकरण से—सर्व जानाति देव! एक राजपुरुष राजा के सम्मुख कह रहा है कि—देव सब कुछ जानते हैं। यहाँ देव का अर्थ व्यंजना से 'आप' समझा जाएगा।

(७) लिंग (चिन्ह)—'कुपितो मकर-ध्वज'। मकरध्वज समुद्र का वाचक भी है किन्तु यह अर्थ अभिमत नहीं है। यहाँ मकर-ध्वज व्यंजना से 'कामदेव' का वाचक है। 'मकर की ध्वजा' कामदेव का चिन्ह है। चिन्ह भी जाति और व्यक्ति में विशेषता पैदा कर देता है।

(८) सन्निधि से—जैसे—'निर्ग्रन्थ धर्म'। धर्म के अनेक अर्थ होते हुए भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द के सम्बन्ध से यहाँ 'जैन धर्म' ही अभिप्रेत है।

(९) सामर्थ्य से—मधुना मत्त पिक। यहाँ बसन्त

इसी प्रकार उन दोनो ही धर्म-धुरन्धर महामुनियो के बीच मे लक्षणा-वृत्ति से ही प्रश्नोत्तर हुए ।

"वतामी पुरिमो राय, न गो होइ पसमिश्रो ।"
"वत नो पडियायइ जे स भिक्खू ।"

जो वमन को ग्रहण नही करता है, वह भिक्षु है । अति बुभुक्षित मनुष्य भी जब वमन को ग्रहण नहीं करता, तब दूसरो की तो बात ही क्या ?

यहाँ वान्त का अर्थ लक्षणा मे त्यक्त वस्तु है । अत अब यह अर्थ निकलता है कि—त्यक्त वस्तु का पुन सेवन करना ही वान्त-ग्रहण करना है । इस प्रकार सूत्रो मे लक्षणा के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं ।

व्यजना-वृत्ति दो प्रकार की होती है—(क) अभिधा-मूलक, और (ख) लक्षणा-मूलक ।

(क) अभिधा-मूलक व्यजना के उदाहरण—

(१) सयोग से—'सकेशरो हरि' 'सवज्रो हरि', 'सशखचक्रो हरि ।' यहाँ 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी केशर के सयोग मे 'हरि' की सिंह मे व्यजना की गई है । इसी प्रकार वज्र के सयोग से इन्द्र मे, और शख-चक्र के सयोग से वासुदेव में समझनी चाहिए ।

(२) विप्र-योग से—'अकेशरो हरि', 'अवज्रो हरि', 'अशखचक्रो हरि' । इससे भी उन्ही पूर्वोक्त व्यक्तियो में व्यजना समझनी चाहिए, अन्य मे नही । क्योकि 'यह सिंह केशर से रहित है'—यह अर्थ निकलता है ।

(३) साहचर्य से—'भीमार्जुनौ' पद से 'भीम' और 'अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी एक दूसरे के साहचर्य से कुन्ती के पुत्र ही लिए जाएँगे।

(४) विरोधिता—'कर्णार्जुनौ' से 'कर्ण' और 'अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी विरोध के कारण महाभारत के पात्र-विशेष में ही व्यंजना की गई है।

(५) अर्थ से—'जिनं वन्दे भवच्छिदे'। यहाँ 'जिन' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी 'भवच्छिदे' इस पद से 'जिनेश्वर' में ही व्यंजना रहती है।

(६) प्रकरण से—'सर्व जानाति देवः'। एक राज पुरुष राजा के सम्मुख कह रहा है कि—देव सब कुछ जानते हैं। यहाँ देव का अर्थ व्यंजना से 'आप' समझा जाएगा।

(७) लिंग (चिन्ह)—कुपितो मकर-ध्वजः। मकर ध्वज समुद्र का वाचक भी है किन्तु यह अर्थ अभिमत नहीं है। यहाँ मकर-ध्वज व्यंजना से कामदेव का वाचक है। मकर की ध्वजा कामदेव का चिन्ह है। चिन्ह भी जाति और व्यक्ति में विशेषता पैदा कर देता है।

(८) सन्निधि से—जैसे—'निर्ग्रन्थ धर्म'। धर्म के अनेक अर्थ होते हुए भी निर्ग्रन्थ शब्द के सम्बन्ध से यहाँ 'जैन-धर्म' ही अभिप्रेत है।

(९) सामर्थ्य से—'मधुना मत्तः पिकः'। यहाँ वसन्त

के सम्पर्क से 'पिक' का अर्थ कोकिल लिया जाता है।

(१०) **देश से**—'विराजितो गगने विधु ।' यहाँ गगन रूप देश से, विधु का अर्थ शशाक लिया जाता है। इसका दूसरा अर्थ नही लिया जायगा।

(११) **काल से**—'निशि चित्र-भानु ।' यहाँ चित्र-भानु की व्यजना रात्रिरूप काल के सम्बन्ध से अग्नि मे ही की गई है, अन्य सूर्य आदि में नही।

(१२) **व्यक्ति से**—'मित्रो भाति' यहाँ मित्र का अर्थ सूर्य लिया जाता है, क्योकि यहाँ मित्र शब्द पुल्लिग है। अत 'मित्र' की व्यजना सूर्य मे है, सखा मे नही है।

(ख) लक्षणा-मूलक व्यजना के उदाहरण—

(१) **गगाया घोष**—गगा के तट पर कुटीर है—यह अर्थ लक्षणा से निकलता है, किन्तु 'शीतलत्व' और 'पावनत्व' आदि विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति व्यजना से ही होती है।

(२) **इ गाल दोष**—इस दोष पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—अगार का रूप प्राकृत भाषा मे 'इङ्गाल' बनता है, जिसका अर्थ होता है—जलता हुआ कोयला। उपलक्षण से बुझे हुए कोयले को भी 'इङ्गाल' कहते हैं।

(ख) लक्षणा वृत्ति—मनोज्ञ आहार-पानी को प्राप्त करके उसमें लुब्ध होना आसक्त होना लोलुपता तथा मूर्च्छा भाव रखना तथा आहार-पानी करते हुए मनोज्ञ भोजन-पानी बनाने वाले की प्रशंसा करना जैन परिभाषा के अनुसार यह सब कुछ साधक के लिए उचित नहीं है क्योंकि उक्त क्रिया करता हुआ वह इङ्गाल-दोष का सेवन करता है। भोजन बनाने वाले की सराहना और आसक्ति-पूर्वक आहार-पानी करने से सावद्य क्रिया की अनुमोदना होती है। जिन जिन जीवों का वह आहार-पानी बना हुआ है उनके जीवन का वह व्याघातक बनता है। जब हृदय में स्वार्थ-वृत्ति जाग उठती है तब इन्द्रियों की लोलुपता से प्रमाद की वृद्धि होती है और प्रमाद से संयम-कला कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की तरह प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। इसलिए आसक्तिपूर्वक आहार-पानी करने वाला साधक 'इङ्गाल-दोष' का सेवन करने वाला है यह अर्थ लक्षणा से जाना जाता है।

(ग) व्यंजना वृत्ति—जैसे जलता हुआ कोयला दूसरों को जला देता है और बुझा हुआ कोयला दूसरों को काला बना देता है जैसे साधारण काष्ठ और बावन वीर्य चन्दन दोनों के मूल्यों में बहुत अन्तर है परन्तु जब उन दोनों को जलाकर कोयला बना दिया जाता है तो उक्त दोनों के कोयले एक ही भाव से बिकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि [illegible]

के सम्पर्क से 'पिक' का अर्थ कोकिल लिया जाता है।

(१०) **देश से**—'विराजितो गगने विधु ।' यहाँ गगन रूप देश से, विधु का अर्थ शशाक लिया जाता है। इसका दूसरा अर्थ नही लिया जायगा।

(११) **काल से**—'निशि चित्र-भानु ।' यहां चित्र-भानु की व्यजना रात्रिरूप काल के सम्वन्ध से अग्नि मे ही की गई है, अन्य सूर्य आदि मे नही।

(१२) **व्यक्ति से**—'मित्रो भाति' यहाँ मित्र का अर्थ सूर्य लिया जाता है, क्योकि यहाँ मित्र शब्द पुल्लिग है। अत 'मित्र' की व्यजना सूर्य मे है, सखा मे नही है।

(ख) लक्षणा-मूलक व्यजना के उदाहरण—

(१) **गगाया घोप**—गगा के तट पर कुटीर है—यह अर्थ लक्षणा से निकलता है, किन्तु 'शीतलत्व' और 'पावनत्व' आदि विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति व्यजना से ही होती है।

(२) **इगाल दोष**—इस दोप पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—अगार का रूप प्राकृत भाषा मे 'इङ्गाल' बनता है, जिसका अर्थ होता है—जलता हुआ कोयला। उपलक्षण से बुझे हुए कोयले को भी 'इङ्गाल' कहते हैं।

भवन काला हो जाता है। अतः यह एक प्रकार का धूम दोष है।

(ख) सकषाय वृत्ति—जैन-परिभाषा के अनुसार 'खाद्य' और 'पेय' पदार्थ पर, या उस पदार्थ के बनाने वाले व्यक्ति पर जो साधक द्वेष तथा रोष करता है अथवा घृणा और निन्दा करता हुआ आहार करता है तो उससे साधक की आत्मा मलिन पड़ जाती है। अतः उस अवस्था-विशेष को भी 'धूम-दोष' कहते हैं।

(ग) वर्यजनक वृत्ति—धूम से आँखें पीड़ित हो जाती हैं आँसू आने लग जाते हैं श्वास रुकने लग जाता है और चेहरा भी म्लान हो जाता है। इस प्रकार आँखों में बहुत पीड़ा हो जाती है और कुछ देर के लिए दीखना भी बन्द हो जाता है। कभी-कभी धुआँ के प्रकोप से त्रस प्राणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में समवायाङ्ग सूत्र में भी कहा है कि— यदि कोई त्रस प्राणी को धूम से मारे तो वह महामोहनीय कर्म बन्ध करता है। अतः यह सिद्ध होता है कि धूम'—मलिनत्व पीड़ा आदि अनेक दोषों से युक्त है। इसी प्रकार 'धूम-दोष' भी ज्ञानात्मा दर्शनात्मा उपयोगात्मा तथा चारित्रात्मा को मलिन करने वाला है।

अर्थात्— धूम-दोष से घातक कर्मों का तीव्र अनुभागबन्ध होता है और उन कर्मों की दीर्घ-स्थिति को बांधता है, इस दृष्टि से 'धूम-दोष' भी मलिनत्व तथा पीड़ा

अपेक्षा चन्दन के बने कोयले मे सस्तापन आदि व्यङ्गार्थ का ज्ञान भी व्यजना से ही जाना जाता है ।

मूल इङ्गाल-दोष में भी दाहकत्व विद्यमान है । वह सयम और आत्म-गुणो को जलाकर भस्म कर देता है । जिस प्रकार बुझे हुए कोयले में कालापन होता है, वैसे ही इङ्गाल-दोष भी स्वय काला है जो कि उज्ज्वल सयम को भी कलकित करता है । जैसे बावन-शीर्ष-चन्दन का मूल्य अधिक होता है, और उसका कोयला बहुत सस्ता, वैसे ही सयम रूपी बावन-शीर्ष चन्दन को जलाकर इन्द्रिय-सुख रूपी कोयला बनाना है, यह अल्प मूल्य व्यङ्ग्यार्थ है ।

साराश मे इगाल-दोष का यह अर्थ व्यजना-शक्ति से अभिव्यञ्जित होता है ।—१

(३) धूम दोष—इस दोष पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) अभिधावृत्ति—'धूम' का अर्थ धुआँ है । "यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि रिति'—इस व्याप्ति वाक्य से यह जाना जाता है कि अग्नि के बिना धुआँ नही हो सकता । धुएँ मे अग्नि का होना नियमेन सिद्ध होता है । फिर चाहे धुआँ किसी रग का हो अथवा कैसे ही स्वभाव का हो, पर अन्तत वह धुआँ ही कहलाता है । उस धुआँ से

१—"जे ण निग्गथे वा निग्गथी वा फासुम्र एसणिज्ज असण पाण खाइम साइम पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे आहार आहारेइ, एम ण गोयमा ! सइगाले पाणभोयणे ।"

—भगवती सूत्र, शतक,७ उद्देश १,

भवन काला हो जाता है। अतः यह एक प्रकार का धूम दोष है।

(ख) लक्षणा वृत्ति—जैन-परिभाषा के अनुसार 'खाद्य' और 'पेय' पदार्थ पर या उस पदार्थ के बनाने वाले व्यक्ति पर जो साधक द्वेष तथा रोष करता है अथवा घृणा और निन्दा करता हुआ आहार करता है तो उससे साधक की आत्मा मलिन पड़ जाती है। अतः उस अवस्था-विशेष को भी 'धूम-दोष' कहते हैं।

(ग) व्यंजना वृत्ति—धूम से आँखें पीड़ित हो जाती हैं आँसू आने लग जाते हैं श्वास रुकने लग जाता है और चेहरा भी म्लान हो जाता है। इस प्रकार आँखों में बहुत पीड़ा हो जाती है और कुछ देर के लिए देखना भी बन्द हो जाता है। कभी-कभी धुआँ के प्रकोप से त्रस प्राणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में समवायाङ्ग सूत्र में भी कहा है कि— यदि कोई त्रस प्राणी को धूम से मारे तो वह महामोहनीय कर्म बन्ध करता है। अतः यह सिद्ध होता है कि 'धूम'—मलिनत्व पीड़ा आदि अनेक दोषों से युक्त है। इसी प्रकार 'धूम-दोष' भी ज्ञानात्मा दर्शनात्मा उपयोगात्मा तथा चारित्रात्मा को मलिन करने वाला है।

अर्थात्— धूम-दोष' से घातक कर्मों का तीव्र अनुभागबन्ध होता है और उन कर्मों की दीर्घ-स्थिति को बाँधता है, इस दृष्टि से 'धूम-दोष' भी मलिनत्व तथा पीड़ा

आदि दोषो से युक्त है। इसलिए उन दोषों को भी 'धूम दोष' के अन्तर्गत समझना चाहिए।—१

(४) जैन—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) अभिधा वृत्ति—'जैन' का अर्थ होता है, 'विजयी के पद चिन्हो पर चलने वाला' अथवा 'विजयी को जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन'।

(ख) लक्षणा वृत्ति—'जो अवधि-ज्ञानी, मन पर्यव-ज्ञानी, और केवल-ज्ञानी जिन है, उन्हे जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन।'

(ग) व्यजना वृत्ति—'जो लक्षण, निक्षेप, नय, स्याद्वाद आदि से वस्तु तत्त्व को जानता है, बन्ध तथा बन्ध के कारणो को जानकर त्यागता है, और सवर, निर्जरा तथा मोक्ष को उपादेय समझकर ग्रहण करता है, वास्तव मे वही 'जैन' कहलाने योग्य है।

(५) निर्ग्रन्थ—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) अभिधा वृत्ति—'निर्ग्रन्थ' का अर्थ है—'निर्गतो ग्रन्थात् आभ्यन्तरबाह्यपरिग्रहाद् य स निर्ग्रन्थ'—यह जैन

१—"जे ण निग्गन्थे वा निग्गन्थी वा फासुअ एसणिज्ज असण पाण खाइम साइम पडिग्गाहित्ता महया अप्पतिय कोहकिलाम करेमाणे आहार आहारेइ, एस ण गोयमा सधूमे पाण भोयणे।"

—भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देश्य १,

श्रमण के लिए रूढ है।

(ख) लक्षणा वृत्ति—इसका प्रयोग 'श्रमण' व्यवहारी श्रमण के लिए किया जाता है शेष व्यवहारियों के लिए नहीं।

(ग) व्यंजना वृत्ति—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान स्थित आत्मा को निर्ग्रन्थ कहते है दूसरों को नहीं।

अध्यापक—

सातो छात्रो की व्याख्या को सुनने के बाद अध्यापक ने अपना विचार प्रस्तुत किया—'यद्यपि आप सब ने शब्द-नय की व्याख्या यथाशक्य बहुत कुछ युक्ति-युक्त की है तथापि जो आवश्यक कथन शेष है उसी को स्पष्ट करने के लिए मुझे कुछ कहना है। दत्त-चित्त होकर सुनिए।

बहुत से लोग लोक-प्रचलित शब्दों के अर्थ पुस्तकों या शब्द-कोषों मे ढूंढते है किन्तु उन्हें यह विचारना चाहिए, कि पुस्तको या शब्द-कोषों मे अर्थ कहाँ है? पुस्तक या कोषों मे तो केवल पर्याय शब्द रहता है—अर्थ नहीं। अर्थ तो सृष्टि मे रहता है। सूत्रो के अक्षर पोथी में मिल जाते है किन्तु अर्थ को जीवन म ही खोजना चाहिए।

वस्तुत 'शब्द बोधक है और 'अर्थ बोध्य। 'शब्द' वाचक है और अर्थ वाच्य। अर्थ बतलाने का मुख्य साधन 'शब्द है।

शब्द ज्ञान में निमित्त कारण है 'स्मृति'। इसी प्रकार स्मृति का निमित्त कारण है 'तदावरण क्षयोपशम। और

आदि दोपो मे युक्त है। इसलिए इन दोपो को भी 'धूम-दोप' के अन्तगत समझना चाहिए।—१

(४) **जैन**—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो मे विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—'जैन' का अर्थ होता है, 'विजयी के पद चिन्हो पर चलने वाला' अथवा 'विजयी को जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन'।

(ख) **लक्षणा वृत्ति**—'जो अवधि-ज्ञानी, मन पर्यव-ज्ञानी, और कवल-ज्ञानी जिन है, उन्हे जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन।'

(ग) **व्यजना वृत्ति**—'जो लक्षण, निक्षेप, नय, स्याद्वाद आदि से वस्तु-तत्त्व को जानता है, वन्ध तथा वन्ध के कारणो को जानकर त्यागता है, और मवर, निर्जरा तथा मोक्ष को उपादेय समझकर ग्रहण करता है, वास्तव में वही 'जैन' कहलाने योग्य है।

(५) **निर्ग्रन्थ**—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—'निर्ग्रन्थ' का अर्थ है—'निर्गतो ग्रन्थात् आभ्यन्तरबाह्यपरिग्रहाद् य स निर्ग्रन्थ'—यह जैन

१—"जे ण निग्गन्थे वा निग्गन्थी वा फासुअ एसणिज्ज असण पाण खाइम साइम पडिग्गाहित्ता महया अप्पतिय कोहकिलाम करेमाणे आहार आहारेइ, एस ण गोयमा सधूमे पाण भोयणे।"

—भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देश्य १,

किसी भी द्रव्य में परिवर्तन आना काल-धर्म है। अतः काल भेद से प्रत्येक पर्याय का वाचक भिन्न ही रहेगा।

आगमों के प्रारम्भ में—"तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नामं नयरी होत्था। आदि भूतकाल सम्बन्धी पाठ देखने में आते है, जबकि वह नगरी जम्बू स्वामी के युग में भी थी। फिर सुधर्मा स्वामी ने जम्बू से ऐसा क्यों कहा है कि—उस काल में और उस समय में 'चम्पा' नाम की नगरी थी? इसका उत्तर यही हो सकता है कि—जो चम्पा नगरी चौथे आरे के समय तथा भगवान् महावीर स्वामी की देशना के समय थी वह चम्पा नगरी जम्बू स्वामी के युग मे नहीं है क्योंकि जम्बू स्वामी का युग पाँचवाँ आरा था। काल-भेद से चम्पा नगरी का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान भी बहुत कुछ बदल गया था। अतः पर्याय जैसे-जैसे पलटती है उसका वाचक भी काल-भेद के अनुसार पलटता ही रहता है।

(२) कारक भेद—इस भेद को निम्नलिखित पाँच प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

(क) धर्म जीव को सद्गति मे पहुँचा देता है। यहाँ पर धर्म 'कर्त्ता' है।

(ख) 'धर्म को प्राप्त करने पर ही जीव सुखी बनता है। यहाँ धर्म 'कर्म' है।

(ग) 'धर्म के द्वारा ही जीव कर्मों को क्षय कर सकता है। यहाँ धर्म 'करण' है।

(घ) 'धर्म के लिए प्रवृत्त होता है। यहाँ धर्म 'संप्रदान' है।

तदावरण क्षयोपशम 'श्रुत-ज्ञान' का निमित्त कारण है। अस्तु, फलित यह हुआ कि 'अर्थ-ज्ञान' शब्द से होता है, और 'शब्द-ज्ञान' स्मृति से, इसी प्रकार स्मृति-ज्ञान—श्रुतज्ञान से, और श्रुत-ज्ञान—तदावरण क्षयोपशम से पैदा होता है। यह क्रम ठीक चलने से ही 'अर्थ-ज्ञान' हो सकता है। जिस प्रकार 'शब्द' के विना अर्थ-ज्ञान नही हो सकता, उसी प्रकार 'शब्द-ज्ञान' स्मृति के विना नही हो सकता। जैसे—एक व्यक्ति अर्द्ध-मागधी भाषा नही जानता। उसके समक्ष यदि कोई भी आगम-ग्रन्थ रखा जाए, तो देखने से या सुनने से शब्द-ज्ञान नही होता, क्योकि स्मृति नही होती। स्मृति तो उसी भाषा को हो सकती है, जिसकी पहले—अवग्रह, ईहा, अवाय होने के पश्चात् धारणा दृढ हो गई हो, अर्थात्—जिस भाषा पर समुचित अधिकार हो चुका हो।

फिर देखने, सुनने तथा पढने से भी उसकी स्मृति हो सकती है। जब तक स्मृति न हो, तब तक शब्द-ज्ञान प्राप्त नही हो सकता है। अत शब्द-ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूर्वोक्त क्रम का होना अनिवार्य है।

'शब्द-नय' का विषय ऋजुसूत्र-नय से सकुचित है, किन्तु विशद है। 'शब्द नय —काल-भेद, कारक-भेद, लिंग-भेद, सख्या-भेद, पुरुष-भेद, और उपसर्ग-भेद से वाच्यार्थ मे भेद मानता है। जिनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) **काल-भेद**—"सुमेरुर्बभूव, सुमेरुर्भवति, सुमेरु भविष्यति। सुमेरु पहले था, अब भी है, भविष्य मे भी होगा। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रति-क्षण वदलती ही रहती है।

किसी भी द्रव्य में परिवर्तन लाना काल-धर्म है। अतः काल भेद से प्रत्येक पर्याय का वाचक भिन्न ही रहेगा।

आगमों के आरम्भ में—"तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नामं नयरी होत्था। आदि भूतकाल सम्बन्धी पाठ देखने में आते हैं, जबकि वह नगरी जम्बू स्वामी के युग में भी थी। फिर सुधर्मा स्वामी ने जम्बू से ऐसा क्यों कहा है कि—उस काल में और उस समय में 'चम्पा' नाम की नगरी थी? इसका उत्तर यही हो सकता है कि—जो चम्पा नगरी चौथे आरे के समय तथा भगवान् महावीर स्वामी की देशना के समय थी वह चम्पा नगरी जम्बू स्वामी के युग में नहीं है क्योंकि जम्बू स्वामी का युग पाँचवाँ आरा था। काल-भेद से चम्पा नगरी का वर्ण गन्ध रस स्पर्श और संस्थान भी बहुत कुछ बदल गया था। अतः पर्याय जैसे-जैसे पलटती है उसका वाचक भी काल-भेद के अनुसार पलटता ही रहता है।

(२) कारक भेद—इस भेद को निम्नलिखित पाँच प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

(क) 'धर्म जीव को सद्गति में पहुँचा देता है। यहाँ पर धर्म कर्त्ता' है।

(ख) 'धर्म को प्राप्त करने पर ही जीव सुखी बनता है। यहाँ धर्म 'कर्म' है।

(ग) 'धर्म के द्वारा ही जीव कर्मों को क्षय कर सकता है। यहाँ धर्म करण' है।

(घ) 'धर्म के लिए प्रवृत्त होता है। यहाँ धर्म 'संप्रदान' है।

(ङ) 'धर्म से भ्रष्ट होकर जीव दुर्गति को प्राप्त करता है।' यहाँ धर्म 'अपादान' है।

(च) 'स्वधर्म में निधन भी श्रेष्ठ है, कामदेव श्रमणोपासक पर दारुण उपसर्ग होने पर भी वह 'स्वधर्म' में दृढ़ रहा।' यहाँ स्वधर्म 'अधिकरण' है।

उपर्युक्त वाक्यों में कारक-भेद होने से 'धर्म' शब्द के अर्थों में भी भेद हो गया है। यहाँ सर्वत्र कारक-भेद से अर्थ-भेद परिलक्षित है।

(३) लिंग-भेद—लिंग तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—(क) पुंलिंग, (ख) स्त्री-लिंग, और (ग) नपुंसक लिंग। तदनुरूप शब्द भी तीनों लिंगों के अन्तर्गत हैं।

शब्द-नय, पुल्लिंग से जो वाच्यार्थ का बोध होता है, उसे स्त्री-लिंग में नहीं मानता। जैसे 'देव' से देवी का बोध नहीं होता। नपुंसक लिंग से जो वाच्यार्थ का बोध होता है, उसे पुल्लिंग में नहीं मानता जैसे—'आम्र' कहने से फल का बोध होता है, वृक्ष का नहीं। पुल्लिंग से वाच्यार्थ के बोध को, नपुंसक लिंग में नहीं मानता, जैसे—मित्र कहने से सूर्य का बोध होता है—सुहृद् का नहीं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी स्वयं समझ लेना।

शब्द-नय मानता है कि कतिपय शब्द त्रिलिंगी भी होते हैं, किन्तु उनका अर्थ भिन्न-भिन्न है। जैसे—'कमल' यह मृग का वाचक है 'कमला' यह लक्ष्मी का वाचक है, 'कमल' यह फल का वाचक है, एवं अमृत, अमृता, अमृतम्'—

इनका अर्थ क्रमशः—देव आमलकी एवं पीयूष आदि है। सम समा समम्'—इनका अर्थ भी क्रमशः—तुल्य वर्ष एव सब में ग्रहण किया जाता है। शिव' ग्रह-विशेष का वाचक है 'शिव' मह एवं कल्याण का वाचक है, 'शिवा' गीदड़ी का वाचक है। 'विश्वंभरः' इन्द्र का पर्याय वाचक है तो विश्वम्भरा' पृथ्वी का। मित्र सूर्य का पर्याय वाचक है, तो 'मित्र' सुहृद् का। मधु' बसन्त का पर्याय वाचक है तो 'मधु' शहद का। 'पीलु' वृक्ष-विशेष का नाम है तो 'पीलु' उसके फल का। 'नभा' श्रावण मास का वाचक है तो 'नभ' गगन का। वसुदेव' अग्नि का वाचक है तो 'वसु' धन व रत्न का। 'कारण' हेतु एवं उपादान का वाचक है तो कारणा तीव्र वेदना का। इसी प्रकार नपुंसक लिंगी सुमन —षष्ठ मन का वाचक है। 'सुमनस्' पुल्लिगी है, जोकि देव-पद का वाचक है। 'सुमनस्' स्त्री-लिंगी है अतः वह पुष्प का वाचक है। संस्कृत भाषा में बहुत-से ऐसे शब्द हैं जिनका वाच्यार्थ एक है किन्तु वाचक शब्द भिन्नलिंगी है। जैसे कि—

'आकाश द्यौ नभ। कृपा मति शोभम्। स्वर्ग द्यौ त्रिविष्टपम्। दारा भार्या कलत्रम्। तटः तटी तटम्। कपटः निकृति शाठ्यम्। अनादर: तिरस्क्रिया अवहेलनम्।

इस प्रकार 'शब्द-नय' लिंग-भेद से वाच्यार्थ का भेद मानता है। चाहे एकार्थ-वाचक एक-लिंगी संख्या में कितने ही हों शब्द-नय उनमें भेद नहीं मानता जब कि 'ऋजुसूत्र-नय'

एक अर्थ के वाचक चाहे त्रिलिंगी हो, उनमे भेद मानता है ।

(४) **सख्या-भेद**—शब्द-नय सख्या-भेद से वाच्यार्थ में भेद मानता है, जैसे—'पुष्पम्' का अर्थ है—एक फूल । 'पुष्पे' का अर्थ है–दो फूल, तथा 'पुष्पाणि' का अर्थ है—बहुत से फूल ।

इसी प्रकार 'सुमनस' स्त्री-लिंगी नित्य बहु-वचनान्त है, जिसका प्रयोग अनेक फूलो के लिए किया जाता है, एक या दो फूलो के लिए नही ।

एक स्त्री को दारा नही कहा जाता । यह शब्द पुलिंग है, जोकि नित्य बहु-वचनान्त है । बहुत-सी स्त्रियो के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता है । इसी प्रकार 'आप' यह शब्द स्त्री-लिगी है, जोकि नित्य ही बहु-वचनान्त है, यह जल का वाचक है । जल के एक कण के लिए 'आप' शब्द का प्रयोग नही किया जाता । 'श्रावक, श्रावकौ, और श्रावका'—इन तीनो का वाच्यार्थ सख्या-भेद से भिन्न-भिन्न है ।

(५) **पुरुष-भेद**—शब्द-नय पुरुष-भेद से वाच्यार्थ भद मानता है, जैसे—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, और उत्तम पुरुष । 'ग्राम गच्छति, ग्राम गच्छसि, ग्राम गच्छामि'—इन तीनो मे पुरुष-भेद होने से वाच्यार्थ मे भेद हो जाता है, अथवा—

'एहि, मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यति यातस्ते पिता'
अथवा—

एहि मन्ये औदनं भोक्ष्यसे युक्तः सोऽतिथिभिरिति ।
"प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ।

उपर्युक्त सूत्रों से जो पुरुष-व्यवस्था है, वह प्रहास में ही समझना । यथार्थ कथन में तो 'एहि त्वं मन्यसे ओदन मह भोक्ष्ये भुक्तः सोऽतिथिभिरिति' आदि उदाहरण स्वयं समझ लेना ।

(६) उपसर्ग-भेद—शब्द-नय उपसर्ग भेद से भी वाच्यार्थ में भेद मानता है। जैसे—

अनुगच्छति अवगच्छति संगच्छते, निर्गच्छति आगच्छति उद्गच्छति—ये सब 'गम्' धातु के रूप हैं। 'हृञ् हरणे' धातु के पत्र प्रत्यय से बने हुए शब्द जैसे—प्रहार, उपहार संहार विहार, निहार, परिहार आहार अपहार व्यवहार आदि। स्था धातु से प्रस्थान अनुष्ठान संस्थान उत्थान अवस्थान उपस्थित—इन सब के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। 'डुकृञ् करणे' धातु से 'उपकार, अपकार संस्कार, विकार प्रकार पुष्कर कुष्कृत आकार आदि।

उपसर्ग-भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। यह नय नाम स्थापना और द्रव्य-निक्षेप को नहीं मानता है, क्योंकि इनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थ-क्रियाकारी होने से भाव-निक्षेप ही वस्तु है। अन्य सब निक्षेप खर-विषाण वत् अवस्तु है। 'पृथु-बुध्न-उदर-आकारादि से कलित' जल आहरण आदि क्रियाकारी घट रूप को ही भाव-घट

मानता है, शेष नाम आदि घट इस नय को स्वीकार नही, क्योकि यह नय शब्द-प्रधान है और चेष्टा लक्षण ही 'घट' शब्द का अर्थ है ।

नाम, स्थापना और द्रव्य-रूप घट नही है, यह प्रतिज्ञा है । जल आहरण आदि जो उसके कार्य हैं, वे कार्य उनसे नही हो सकते, यह हेतु है। पट आदि की तरह, यह दृष्टान्त है। भाव के सिवाय नाम आदि निक्षेप 'रूप घट, प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दोनो से असिद्ध है।

ऋजुसूत्र-नय को सम्बोधित करके शब्द-नय कहता है—'जो कुम्भ नष्ट हो चुका है और जो अभी तक बना ही नही, वह घट जब कि तुम्हे अभीष्ट नही है, क्योकि उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, तब नाम आदि घट को तुम ने कैसे घट-रूप मे मान लिया, क्योकि प्रयोजनाभाव दोनो मे समान ही है। यह है 'शब्द-नय' की सक्षेप मे रूप-रेखा ।

समभिरूढ-नय

"पर्याय शब्देषु निरुक्ति भेदेन,
भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ ।"
— प्रमाण-नय तत्त्वालोक ७—३६,

मानता है, शेष नाम आदि घट इस नय को स्वीकार नही, क्योकि यह नय शब्द-प्रधान है और चेष्टा लक्षण ही 'घट' शब्द का अर्थ है ।

नाम, स्थापना और द्रव्य-रूप घट नही है, यह प्रतिज्ञा है । जल आहरण आदि जो उसके कार्य हैं, वे कार्य उनसे नही हो सकते, यह हेतु है । पट आदि की तरह, यह दृष्टान्त है । भाव के सिवाय नाम आदि निक्षेप 'रूप घट, प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दोनो से असिद्ध है ।

ऋजुसूत्र-नय को सम्बोधित करके शब्द-नय कहता है—'जो कुम्भ नष्ट हो चुका है और जो अभी तक बना ही नही, वह घट जब कि तुम्हे अभीष्ट नही है, क्योकि उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, तब नाम आदि घट को तुम ने कैसे घट-रूप मे मान लिया, क्योकि प्रयोजनाभाव दोनो मे समान ही है । यह है 'शब्द-नय' की सक्षेप मे रूप-रेखा ।

: १२

समभिरूढ-नय

शब्द-नय की व्याख्या समाप्त होने के पश्चात् अध्यापक ने समभिरूढ-नय की व्याख्या करने के लिए छात्रों को आज्ञा प्रदान की। आज्ञा पाते ही सातों छात्रों ने समभिरूढ नय की व्याख्या इस प्रकार की—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—

'जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा ।
सण्णंतरत्थविमुहो तओ नओ समभिरूढो त्ति ॥ —१

अर्थात्—शब्द-नय ने जहाँ एकार्थ वाची घट कुट कलश कुम्भ आदि अनेक शब्द स्वीकार किये हैं वहाँ समभिरूढ-नय की मान्यता है कि—जो जिस वाच्य का वाचक है उसका पर्यायवाची वाचक समस्त वाङ्मय में नहीं मिलेगा। जैसे—'घट' जिस वाच्य का वाचक है उसके कलश कुम्भ आदि अन्य पर्यायवाची वाचक नहीं हो सकते।

१—विशेषावश्यक भाष्य।

पर्यायशब्द-भेदेन, भिन्नार्थस्याधिरोहणात् ।
नयः समभिरूढ स्यात्, पूर्ववच्चास्य निश्चयः ॥

— श्लोक वार्तिक

"जहाँ शब्द का भेद है, वहाँ अर्थ का भेद अवश्य है। यह कहने वाला 'समभिरूढ-नय' है। 'शब्द-नय' तो अर्थ-भेद वही कहता है, जहाँ लिंग आदि का भेद होता है, परन्तु इस नय की दृष्टि में तो प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ही होता है।"

: १२ :

समभिरूढ-नय

शब्द-नय की व्याख्या समाप्त होने के पश्चात् अध्यापक ने समभिरूढ-नय की व्याख्या करने के लिए छात्रों को आज्ञा प्रदान की। आज्ञा पाते ही सातों छात्रों ने समभिरूढ नय की व्याख्या इस प्रकार की—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—

जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा।
सण्णंतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढो त्ति॥ —१

अर्थात्—शब्द-नय ने जहाँ एकार्थ वाची घट कुट कलश कुम्भ आदि अनेक शब्द स्वीकार किये हैं वहाँ समभिरूढ-नय की मान्यता है कि—जो जिस वाच्य का वाचक है उसका पर्यायवाची वाचक समस्त वाङ्मय में नहीं मिलेगा। जैसे—'घट' जिस वाच्य का वाचक है उसके 'कलश कुम्भ आदि अन्य पर्यायवाची वाचक नहीं हो सकते।

१—विशेषावश्यक भाष्य।

भिन्न-भिन्न शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होते है, एक नही। जैसे--'घटनात् घट' इति। विशिष्ट चेष्टावान् वाच्यार्थ को 'घट' कहते है।

"कुट कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुटः"
—यह व्युत्पत्ति 'कुट' शब्द की है।

"उभ-उभ पूरणे कुम्भनात् कुम्भितपूर्णात् कुम्भ"—यह व्युत्पत्ति कुम्भ शब्द की है। इस प्रकार घट, कुट, और कुम्भ इन तीनो मे शब्द-भेद की तरह अर्थ-भेद भी है। एक अर्थ मे अनेक शब्दो की प्रवृत्ति नही हो सकती।

शब्द-नय को इङ्गित करते हुए समभिरूढ-नय कहता है, कि जब आपने यह मान लिया कि—लिंग-भेद, कारक-भेद और वचन-भेद से अर्थ-भेद होता है, तब ध्वनि-भेद होने से--घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो के अर्थ-भेद आपको क्यो अमान्य है? जब कि ध्वनि-भेद मे यहाँ भी समानता ही है। अत हमारे मार्ग का अनुकरण आप को भी बिना किसी सकोच तथा बिना तर्क-वितर्क के कर लेना चाहिए।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"एक-सज्ञा-समभिरोहणात् समभिरूढ,"—१

विरुद्ध लिंग आदि योग से जैसे वस्तु मे भिन्नता आ जाती है, वैसे ही सज्ञा-भेद से भी आती है। सज्ञा-भेद तो सकेत कर्ताओ के द्वारा प्रयोजन-वश ही किया जाता है, न

१—सन्मति तर्क टीका।

कि बिना प्रयोजन के अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आ जाएगा। जिस प्रकार वस्तु के संज्ञा-वाचक शब्द हैं उसी प्रकार ही उनके अर्थ भी हैं। अतः एक अर्थ के अनेक संज्ञा वाचक नहीं हो सकते। शब्द-नय की यह मान्यता है कि— 'पर्यायवाचक एक लिंगी शब्द भिन्न होते हुए भी एक अर्थ के द्योतक हैं यथा— अमरा 'निर्जरा' देवा आदि का एक देव अर्थ है।

समभिरूढ़-नय का अभिमत है कि— अमरा' 'निजरा' और 'देवा' इन तीनों का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न है—एक नहीं।

'न म्रियन्तेऽपर्याप्त-काले ये तेऽमराः' अथवा— 'न म्रियन्ते हननादपि ये तेऽमरा '–जिनकी मृत्यु अपर्याप्त काल में नहीं हो सकती अथवा जो शस्त्र-अस्त्र आदि से भी नहीं मरते अपनी स्थिति पूर्ण होने से पहले जो नहीं मरते उन्हें अमर' कहते हैं।

निर्जरा निर्गता जराया ये ते निर्जरा —

जो बुढ़ापे के जाल से निकल गए, अथवा जिनके जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से सदैव यौवन बना रहता हो वे निर्जरा-वाचक के वाच्यार्थ हैं।

'दीव्यन्तीति देवा, —'दिवु' धातु—क्रीड़ा विजि गीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति तथा गति इन अर्थों में है। अतः इन लक्षणों से जो युक्त हैं वे देव कहलाते हैं।

सारांश यह निकला कि—अमराः, निजरा और देवा

भिन्न-भिन्न शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, एक नही। जैसे--'घटनात् घट' इति। विशिष्ट चेष्टावान् वाच्यार्थ को 'घट' कहते हैं।

"कुट कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुटः"

—यह व्युत्पत्ति 'कुट' शब्द की है।

"उभ-उ भ पूरणे कुम्भनात् कुत्सितपूर्णात् कुम्भ"—यह व्युत्पत्ति कुम्भ शब्द की है। इस प्रकार घट, कुट, और कुम्भ इन तीनों मे शब्द-भेद की तरह अर्थ-भेद भी है। एक अर्थ मे अनेक शब्दो की प्रवृत्ति नही हो सकती।

शब्द-नय को इङ्गित करते हुए समभिरूढ-नय कहता है, कि जब आपने यह मान लिया कि—लिंग-भेद, कारक-भेद और वचन-भेद से अर्थ-भेद होता है, तब ध्वनि-भेद होने से—घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो के अर्थ-भेद आपको क्यो अमान्य है? जब कि ध्वनि-भेद मे यहाँ भी समानता ही है। अत हमारे मार्ग का अनुकरण आप को भी बिना किसी सकोच तथा बिना तर्क-वितर्क के कर लेना चाहिए।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"एक-सञ्ज्ञा-समभिरोहणात् समभिरूढ"—१

विरुद्ध लिंग आदि योग से जैसे वस्तु मे भिन्नता आ जाती है, वैसे ही सञ्ज्ञा-भेद से भी आती है। सञ्ज्ञा-भेद तो सकेत कर्त्ताओ के द्वारा प्रयोजन-वश ही किया जाता है, न

१—सन्मति तर्क टीका।

अस्तु, जो इन्द्र है—वह इन्द्र है। जो वज्रपाणि है—वह वज्रपाणी है। जो पुरन्दर है—वह पुरन्दर है और जो शक्र है—वह शक्र है।

वास्तव में न तो इन्द्र—शक्र हो सकता है और न शक्र—पुरन्दर हो सकता है अर्थात्—कोषकारों ने एक सिमी इन्द्र के पर्याय-वाचक शब्द दिए हैं और शब्द-नय ने उन सब का अर्थ एक माना है। परन्तु समभिरूढ-नय उन सभी पर्याय-वाचक शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न करता है। बस यही दोनों में अन्तर है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा— सत्स्वर्थेष्वसंक्रम समभिरूढ —१

अर्थात्—सत् अर्थों में संक्रम न होना ही समभिरूढ-नय' का अर्थ है।

शब्द-नय काल कारक और लिंग आदि के भेद से ही अर्थ में भेद मानता है। एक लिंग वाले पर्याय-वाचक शब्दों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता। जैसे—भगवान बुद्ध इन सब का लिंग एक होने से अर्थ भी एक ही मानता है। शब्द-भेद के आधार पर अर्थ-भेद करने वाली बुद्धि जब कुछ और आगे बढ़ जाती है और व्युत्पत्ति के आधार पर पर्याय-वाचक शब्दों में अर्थ-भेद मानने के लिए तैयार हो जाती है तब समभिरूढ-नय' का अवतरण होता है। व्युत्पत्ति-वाद का विकास समभिरूढ-नय के समर्थकों ने

१—तत्त्वार्थ भाष्य।

ये तीनो ही भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ के वाचक हैं, एक अर्थ के नही। क्योंकि जहाँ शब्द-भेद है, वहाँ अर्थ-भेद अवश्य है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"पर्याय-शब्देषु निरुक्ति-भेदेन भिन्नमर्थ समभिरोहन् समभिरूढ"—१

अर्थात्—जो पर्याय वाचक शब्दो मे निरुक्ति-भेद से अर्थ भेद को स्वीकार करता है, वह 'समभिरूढ-नय' है।

शब्द-नय, जब कि शब्द-पर्याय की भिन्नता में भी द्रव्य के अर्थ मे अभेद मानता है, तब समभिरूढ-नय शब्द-पर्याय में भेद होने पर भी द्रव्य के अर्थ को भिन्न मानता है। जैसे—"भूपालनात् भूप, नृपालनात् नृप, राजते वैभवादिभि र्य स राजा", आदि। शब्द-भेद से अर्थ-भेद मानना ही प्रस्तुत-नय का परम लक्ष्य है। यदि शब्द-भेद से अर्थ-भेद नहीं माना जाए, तो 'इन्द्र' और 'शक्र' दोनो शब्दो का अर्थ एक हो जाएगा।

'इन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति—'इन्दनादिन्द्र', अर्थात्—जो शोभित हो वह 'इन्द्र' का वाच्य है, एव 'शकनाच्छक्र', अर्थात्—जो शक्तिशाली हो, उसे 'शक्र' कहते हैं। इसी प्रकार 'पुर्दारणात् पुरन्दर', अर्थात्—जो नगर आदि का ध्वस करता है, वह 'पुरन्दर' कहलाता है। 'वज्र पाणौ यस्य स वज्रपाणी,' अर्थात्—जिसके हाथ मे वज्र है, वह 'वज्रपाणी' कहलाता है। जब इन शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है, तब इनका वाच्यार्थ भी भिन्न-भिन्न ही होना चाहिए।

१—प्रमाण-नय तत्त्वालोक,

प्रश्न—अब रहा यह प्रश्न कि—संख्यात अक्षरों से अनन्त अर्थों का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जैसे लोकाकाश असंख्यात प्रदेशात्मक है। फिर भी उसमें अनन्त द्रव्य समाए हुए हैं वैसे ही संख्यात शब्दों में भी अनन्त अर्थ समाए हुए हैं। यह बात आगम प्रमाण से प्रमाणित होने से सर्वथा ग्राह्य है।

पंचम छात्र

पाँचवें छात्र ने कहा—'पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेनार्थभेदं समभिरोहन् समभिरूढः ।'—१

अर्थात्—जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ भेद की कल्पना करता है वह 'समभिरूढ़-नय' कहलाता है।

'शब्द-नय' यदि लिंग आदि के भेद से अर्थ-भेद को स्वीकार करता है तो संज्ञा-भेद से भी अर्थ-भेद को स्वीकार क्यों नहीं करता ? समभिरूढ़-नय शब्द-नय से कहता है यदि तुम ऐसा कहोगे कि—घट कुट और कुम्भ आदि शब्दों का अनुशासन वश से एक में संकेत ग्रहण हो जाता है तो 'ऋजुसूत्र-नय' से ग्रहण किया हुआ संकेत-विशेष पर्यालोचन में क्यों नहीं छोड़ देते ?

शब्द-नय कहता है कि—जिस रूप से जिस पदार्थ का बोध होता है उसी रूप से उसकी पद-शक्ति है। घट-पद की तरह कुट-पद से भी घट रूप अर्थ का बोध होता है। अतः सिद्ध हुआ कि घट कुट और कुम्भ आदि एक घट

१—नय प्रदीप

किया है। यह नय कहता है कि—केवल काल आदि के भेद से अर्थ-भेद मानना ही पर्याप्त नही है, अपितु व्युत्पत्ति-मूलक शब्द-भेद से भी अर्थ-भेद मानना चाहिए।

प्रश्न—वाच्य कितने हैं ? और वाचक कितने ?

उत्तर—वाच्य अनन्तानन्त हैं, और वाचक केवल सख्यात ही हैं, असख्यात व अनन्त नही।

विश्व की जितनी भी भाषाएँ हैं, उन सभी के समस्त शब्दो को यदि कल्पना से एकत्र किया जाए, तो भी शब्द-समूह समुद्र की तरह सख्यात की वेला को अतिक्रम नही कर सकता।

प्रश्न—अब यह नया प्रश्न पैदा हो सकता है कि क्या श्रुत-ज्ञान से अनन्त पर्याय जानी जा सकती हैं ? यदि श्रुत-ज्ञान का विषय अनन्त है, तो फिर सख्यात शब्दो से अनन्त अर्थों का बोध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—श्रुत-ज्ञान दो प्रकार का है—(क) अभिलाप्य, और (ख) अनभिलाप्य। जो 'अभिलाप्य' है, उसका ज्ञान शब्द के द्वारा हो सकता है। तथा जो 'अनभिलाप्य' है, उसका नही। अभिलाप्य से अनभिलाप्य श्रुत-ज्ञान अनन्त गुण है। 'समवायाग' तथा 'नन्दी' सूत्र में एक पाठ आता है-"दिट्ठिवायस्स सखेज्जा अक्खरा, अणता गमा, अणता पज्जवा" दृष्टिवाद मे श्रुत ज्ञान का आमूल-चूल वर्णन आता है, जबकि उसमे भी 'सखेज्जा अक्खरा अणता गमा' बतलाया है, तब अन्य शास्त्र-ग्रन्थ तो उसके आगे नगण्य मे है।

क्योंकि एक स्थान पर ऐसा कहा भी गया है— 'पारिभाषिकी तार्थतत्त्वं ब्रवीति ।

शब्द-नय—यदि अर्थ-बोधकत्व भाव में पदत्व भाव पाया जायगा तो यह इच्छा शब्द-संकेत से भी अभिव्यक्त हो सकती है तो फिर दोनों में विषमता ही क्या है ?

समभिरूढ-नय—पदों का स्वभाव है कि व्युत्पत्ति के निमित्त से अर्थ का बोध कराना एवं यह इच्छा शब्द-संकेत से अस्वभाव-भूत अर्थ का ग्रहण होता है। यही इन दोनों में विषमता है।

शब्द-नय—जिस प्रकार नानार्थक पद में अर्थ संक्रम हो जाता है उसी प्रकार अर्थ में भी पद संक्रम हो जाना चाहिए अर्थात्—जैसे एक पद में अनेक अर्थ समवेत हैं, वैसे ही एक अर्थ में अनेक पदों का संक्रम हो जाता है फिर इसमें क्या हानि है ?

समभिरूढ-नय—अर्थ की तरह 'पद' का भी क्रिया के उपराम से संक्रम हो जाता है अर्थात्—पद में पद का संक्रम हो जाता है। किन्तु अर्थ का संक्रम नहीं होता जैसे—(हरी) यह पद द्विवचनान्त है। हरि' 'हरि श्री' यहां पद सारूप्येण एक शेष करके 'हरी' ऐसा रूप बना। यहां एक पद का दूसरे पद में संक्रमण हो गया किन्तु पद-संक्रम से अर्थ-संक्रम नहीं हुआ।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—'सम्यक् प्रकारेण पर्याय-शब्देषु निरुक्तिभेदेन अर्थमभिरोहन् समभिरूढ' ।

रूप अर्थ के बोधक होने से इन्हे पर्यायान्तर कहना युक्ति-सगत ही है।

समभिरूढ-नय कहता है कि आपका यह कहना युक्ति-युक्त नही है, क्योकि 'घट चेष्टायां' धातु से 'घट' शब्द बना है। 'कुट कौटिल्ये' धातु से 'कुट' शब्द बना है, जबकि दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है, तो वाच्यार्थ भी भिन्न-भिन्न ही होने चाहिएँ—एक नही। जिस प्रकार तन्तुओ से 'पट' बना है, मिट्टी से 'घट' बना है, और दोनो के उत्पन्न होने के उपादान कारण भी भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो की व्युत्पत्ति के प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही हैं तथा वाच्यार्थ भी भिन्न हैं। यदि तुम ऐसा कहोगे कि—व्युत्पत्ति ज्ञान के बिना भी पदार्थ का बोध हो सकता है, तो यह कथन भी युक्ति-सगत नही है, क्योकि अन्य किसी स्थल मे किसी एक शब्द की निष्पत्ति के प्रकार अनेक होने से व्युत्पत्ति-ज्ञान के बिना वाच्यार्थ का बोध कैसे हो सकता है ? उदाहरण के रूप मे लीजिए—

जैसे कि 'कुपति एक शब्द है, इसकी व्युत्पत्ति है—'कु-पृथ्वी तस्या पति कुपति' अथवा 'कुत्सित पति कुपति', अर्थात्—व्युत्पत्ति के अनुसार ही वाच्यार्थ का बोध हो सकता है।

शब्द-नय—ऐसा करने से तो पारिभाषिक शब्द की अनर्थकता सिद्ध न हो जाएगी ?

समभिरूढ-नय—हो जाने दो, हमें इससे क्या चिन्ता ?

क्योंकि एक स्थान पर ऐसा कहा भी गया है— 'पारिभाषिकी मार्थतस्वं ब्रवीति ।

शब्द-नय—यदि अर्थ-बोधकत्व भाव में पदत्व भाव पाया जायगा तो यह इच्छा शब्द-संकेत से भी अभिव्यक्त हो सकती है तो फिर दोनों में विषमता ही क्या है ?

समभिरूढ़-नय—पदों का स्वभाव है कि व्युत्पत्ति के निमित्त से अर्थ का बोध कराना एवं यह इच्छा शब्द-संकेत से अस्वभाव भूत अर्थ का ग्रहण होता है । यही इन दोनों में विषमता है ।

शब्द-नय—जिस प्रकार नानार्थक पद में अर्थ संक्रम हो जाता है उसी प्रकार अर्थ में भी पद संक्रम हो जाना चाहिए अर्थात्—जैसे एक पद में अनेक अर्थ समवेत हैं, वैसे ही एक अर्थ में अनेक पदों का संक्रम हो जाता है फिर इसमें क्या हानि है ?

समभिरूढ़-नय—'अर्थ की तरह 'पद' का भी क्रिया के उपराग से संक्रम हो जाता है अर्थात्—पद में पद का संक्रम हो जाता है । किन्तु अर्थ का संक्रम नहीं होता जैसे—(हरी) यह पद द्विवचनान्त है । हरि' हरि श्री' यहाँ पद सारूप्येण एक शेष करके 'हरी' ऐसा रूप बना । यहाँ एक पद का दूसरे पद में संक्रमण हो गया किन्तु पद-संक्रम से अर्थ-संक्रम नहीं हुआ ।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—"सम्यक् प्रकारेण पर्याय-शब्देषु निरुक्तिभेदेन अर्थमभिरोहन् समभिरूढ़ ।

१

अर्थात्–जो पर्याय, जिस अर्थ के योग्य हो, उम पर्याय को उसी अर्थ मे अलग-अलग स्वीकार करना तथा शब्द के अथ की व्युत्पत्ति मे लक्ष्य रखना—यह ममभिरुढ-नय का ध्येय है। जैसे—जिम पदार्थ या वस्तु में घट' शब्द की ध्वनि होती हो, उसे ही 'घट' कहेगा, खाली को नही ।

प्रस्तुत नय एक शब्द से अनेक वस्तुओ को 'वाच्य' नही मानना है, अर्थात्—कहने वाले के शब्द का जो अर्थ और अभिप्राय होता है, उसे तो 'वस्तु' मानता है, और शेप को 'अवस्तु', जैसे—किसी ने कहा—'योगीश्वर ! अश्व दौडता है, इसका निग्रह करो।' इस वाक्य मे 'अश्व' शब्द के दो अर्थ होते है—'घोडा' और 'मन'। परन्तु कहने वाले का तात्पय साधु के मम्बन्ध में 'मन' से है । अत मन तो 'वस्तु' है, और अश्व 'अवस्तु'। इसी प्रकार 'धर्म' शब्द के कहने पर धर्मास्तिकाय, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म की विवक्षा मे ममभिरूढ-नय वोलने वाले के शब्द का अभिप्राय लेकर, जो अर्थ प्रसगानुसार अभिमत हो, केवल उसे ही 'धम' मानता है, अन्य धम को 'धर्म' नही मानता है, अर्थात्—कहने वाले की मनोगत वस्तु को ही 'वस्तु' स्वीकार करना, इस नय का अभीप्ट लक्ष्य है।

वस्तुत 'शब्द' तो आधार है, और मानसिक अभिप्राय 'आधेय' है। वहाँ शब्द-नय यह आशका प्रस्तुत करता है, कि—तुम्हारे कथन मे, और हमारे कथन मे क्या अन्तर है ?

इसका उत्तर समभिरूढ़ देता है कि—'शब्द' का अर्थ तो अन्य वस्तु में भी प्राप्त होता है। जैसे—'गौ' शब्द का अर्थ 'वृषभ' के अतिरिक्त भाण्डिय 'स्वर्ग' 'जल' 'रश्मि' 'दृष्टि' 'बाण' तथा वज्र अर्थात्— गच्छतीति गौ — गमन क्रिया करने वाले अनेक अर्थों में घटित हो जाता है। यह तो आपका अभिमत है किन्तु अभिप्राय-युक्त 'आधार वस्तु' के अर्थ को ही वस्तु मानना हमारा अभिप्रेत है। बस यही दोनों में अन्तर है।

जिस प्रकार शब्द-पर्याय में भिन्नता होते हुए भी शब्द नय एक ही अर्थ मानता है वैसे ही अनेक अर्थों का आधार रूप एक शब्द भी मानता है परन्तु समभिरूढ़-नय भिन्न भिन्न पर्याय-वाचक शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न मानता है और नानार्थक शब्द का एक समय में एक ही अर्थ मानता है उसे ही अभिप्रेत वस्तु मानता है शेष अर्थों को 'अवस्तु'।

सप्तम साक्ष

सातवें साक्ष मे कहा— 'वत्थुमो संकमणं होइ अवत्थु णए समभिरूढे। —१

अर्थात्—वस्तु का अन्य किसी वस्तु में संक्रमण होना असम्भव है।।

जीव जीवास्तिकाय प्राणी भूत सत्त्व विज्ञ वेत्ता आत्मा पुद्गली कर्त्ता विकर्त्ता जन्तु, यौगिक स्वयंभू, सशरीरी ज्ञाता तथा अन्तरात्मा आदि शब्द-नय

१—अनुयोग द्वार सूत्र।

के मत से ये एक जोव-द्रव्य की सज्ञाएँ है। किन्तु समभिरूढ-नय पूर्वोक्त शब्दो के अर्थ को व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न करता है, अर्थात्—

प्रस्तुत नय के मत मे विश्व भर के सभी कोशो मे एक शब्द का पर्याय-वाचक दूसरा शब्द नही मिलेगा, अर्थात्—'जीव' और 'आत्मा' शब्द मे एकरूपता लाना नितान्त असभव है। जैसे 'आत्मा' शब्द के स्वर और व्यजन 'जीव' शब्द मे सक्रम नही होते, वैसे ही 'जीव' शब्द के स्वर और व्यजन 'आत्मा' शब्द मे सक्रान्त नही होते, तथा जिस अर्थ की सज्ञा 'जाव' ह, उसको सज्ञा 'आत्मा' नही हो सकती। जिस अथ की सज्ञा 'आत्मा' ह, उसकी सज्ञा 'जीव' नही हो सकती है।

इसी प्रकार 'नन्दी सूत्र' मे या 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता आदि शब्द, 'शब्द-नय' के मतानुसार एक लिगी होने पर एक अथ के पर्याय-वाचक शब्द हैं। परन्तु समभिरूढ-नय, सज्ञा-भेद से पूर्वोक्त शब्दो के अथ-भद मानता है। इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण स्वय विज्ञेय हैं।

जिस प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्ति-काय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय, इन पाँचो द्रव्यो का एक-दूमरे के साथ सम्बन्ध होते हुए भी गुण और स्वभाव का आदान-प्रदान नही होता, उसी प्रकार 'जीव' के साथ अनादि काल से कार्मण पुद्गल बद्ध होने पर भी

'जीव' का 'अजीव' के रूप में संक्रमण नहीं होता और न कार्मण पुद्गल ही 'जीव' रूप में संक्रान्त होता है।

प्रश्न—जब किसी रासायनिक प्रयोग से ताम्र का स्वर्ण, या पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण हो जाता है तब आपके कथनानुसार क्या 'ताम्र' या लोहा' स्वर्ण के रूप में संक्रान्त नहीं हुआ? यदि कहो नहीं होता तो यह प्रत्यक्ष विरोध है। यदि कहो 'संक्रान्त हो जाता है" तो यह आगम विरोध है। एक स्थान पर भी विरोध आ जाए, तो फार्मूला गलत साबित हो जाने से वह फार्मूला—फार्मूला नहीं रहता। यदि दो प्रमाणों से प्रयोग गलत साबित हो जाए, तो कहना ही क्या? अत इस विरोध का परिहार करिए?

उत्तर—संक्रमण होने के जो-जो उदाहरण आपने दिए हैं वे अन्वय और व्यतिरेक से विपरीत हैं। लोहा' पारस के स्पर्श से 'स्वर्ण' बन जाता है, किन्तु यह तो उसकी पर्याय है। वस्तुत: पर्याय तो परिवर्तित होती ही रहती है। पर्याय तो विस्रसा से भी परिवर्तित होती है तथा प्रयोगज से भी। यदि लोहे का पारस बन जाता और पारस का लोहा बन जाता तो इसे हम कथंचित् संक्रम कह सकते हैं—सर्वथा नहीं किन्तु ऐसा होता नहीं।

प्रश्न—दूध में दधि मिश्रित कर देने से वह दूध दधि के रूप में संक्रान्त हो जाता है यह उदाहरण तो अन्वय से व्याप्त है?

के मत से ये एक जोव-द्रव्य की सज्ञाएँ हैं । किन्तु समभिरूढ-नय पूर्वोक्त शब्दो के अथ को व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न करता है, अर्थात्—

प्रस्तुत नय के मत मे विश्व भर के सभी कोशो मे एक शब्द का पर्याय-वाचक दूसरा शब्द नही मिलेगा, अर्थात्—'जीव' और 'आत्मा' शब्द मे एकरूपता लाना नितान्त असभव है । जैसे 'आत्मा' शब्द के स्वर और व्यजन 'जीव' शब्द मे सक्रम नही होते, वैसे ही 'जीव' शब्द के स्वर और व्यजन 'आत्मा' शब्द मे सक्रान्त नही होते, तथा जिस अथ की सज्ञा 'जीव' ह, उसको सज्ञा 'आत्मा' नही हो सकती। जिस अथ की सज्ञा 'आत्मा' है, उसकी सज्ञा 'जीव' नही हो सकती है ।

इसी प्रकार 'नन्दी सूत्र' मे या 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता आदि शब्द, 'शब्द-नय' के मतानुसार एक लिंगी होने पर एक अथ के पर्याय-वाचक शब्द हैं। परन्तु समभिरूढ-नय, सज्ञा-भेद से पूर्वोक्त शब्दो के अथ-भद मानता है । इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण स्वय विज्ञेय हैं ।

जिस प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय, इन पाँचो द्रव्यो का एक-दूमरे के साथ सम्बन्ध होते हुए भी गुण और स्वभाव का आदान-प्रदान नही होता, उसी प्रकार 'जीव' के गाथ अनादि काल से कार्मण पुद्गल वद्ध होने पर भी

समभिरूढ़-नय व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न पर्याय शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ होने से पदार्थों को भिन्न-भिन्न मानता है अर्थात्-जितने भी पर्यायवाची शब्दों के नाम हैं उतने ही वस्तु-भेद और अर्थ-भेद इस नय के मत से माने जाते हैं। क्योंकि इस नय का अर्थ केवल अभिधेय ही नहीं है अपितु पर्यायवाचक शब्द भी है फिर भी उन शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थों को स्वीकार करना इस नय का मुख्य लक्ष्य है।

यदि पर्यायवाची कोष की दृष्टि से एकार्थवाचक कहे जाने वाले 'शब्द' और 'पर्याय' के भेद होने पर भी वस्तु का भेद न माना जाए तो फिर भिन्नार्थवाचक पर्याय-भेद और शब्द-भेद के होने पर भी वस्तुओं का भेद न होना चाहिए। जैसे—'घट' और 'पट' ये दोनों ही पदार्थ भिन्न-भिन्न पर्यायों और भिन्न-भिन्न शब्दों वाले हैं। यदि अर्थ-भेद न माना जाएगा तो उक्त दोनों का भेद भी सिद्ध न हो सकेगा। अतएव इस नय के मत में शब्द भेद के द्वारा वस्तु के अर्थ-भेद का होना अनिवार्य माना गया है। यह नय किसी वस्तु को अंश-मात्र गुण न्यून होने पर भी उसे 'पूर्ण वस्तु' मानता है जैसे 'भारतगण मनोनीत राष्ट्रपति' को भी 'राष्ट्रपति' मानता है।

दूसरा उदाहरण देखिए—एक विद्यार्थी बी० ए० बी० टी० में सर्व प्रथम पास हुआ है और शिक्षामन्त्री ने उसे अमुक तारीख को अमुक हाई-स्कूल में प्रधान अध्यापक पद को सुशोभित करने के लिए निर्देश दिया है। समभिरूढ़-नय के अनुसार अभी से ही उसको प्रधान अध्यापक कह सकते हैं। इसी प्रकार जो आन्तरिक युद्ध में विजयी बनते हुए

उत्तर—आपका यह कथन भी युक्ति-युक्त नही, क्योकि सजातीय मे सक्रम हो जाना, तो पर्याय है। विजातीय में सक्रम तीन काल मे भी नही हो सकता। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का परिणमन होना, पुद्गलास्तिकाय की 'गुण पर्याय' है, तथा सस्थानो मे परिणमन होना 'द्रव्य पर्याय' है। जिनके उदाहरण आपने दिए हैं, वे समस्त पुद्गल 'द्रव्य' के है। एक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान का, दूसरे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान मे परिणत होना तो पर्याय है।

जिस प्रकार पुद्गलास्तिकाय का किसी समय भी धर्मास्तिकाय या जीवास्तिकाय आदि मे सक्रम नही होता, उसी प्रकार एक शब्द का दूसरा सजातीय शब्द न होने से कथचित् भी सक्रम नही हो सकता, और विजातीय शब्द का सक्रम तो होना ही असम्भव है। 'इन्द्र' का 'शक्र' मे सक्रम नही हो सकता, 'शक्र' का 'इन्द्र' मे नही हो सकता। अर्थात्—'इन्द्र' कभी भी 'शक्र' नही हो सकता, और न 'शक्र' कभी 'इन्द्र' हो सकता है। यह है 'समभिरूढ-नय' का अभीष्ट मत।

अध्यापक

छात्रो का वक्तव्य सुनकर अध्यापक ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रिय छात्रो ! यद्यपि तुम सब ने समभिरूढ-नय के विषय मे बहुत कुछ विवेचन किया है, तथापि प्रसंगानुसार अपूर्ण विषय को पूर्ण करने के लिए मुझे भी कहना कुछ आवश्यक है। अत सावधान होकर सुनो—

कर रहा है उसे यह नय उसी सूत्र का ज्ञानी मानता है—अन्य का नहीं।

एक व्यक्ति अनेक भाषाएँ जानता है किन्तु यह नय जिस भाषा में उपयोग लगा है वर्तमान में उसी का ज्ञाता मानता है—अन्य का नहीं क्योंकि एक समय में जैसे एक ही भाषा बोली जा सकती है—दो नहीं। इसी प्रकार उपयोग भी वर्तमान में केवल एक ही भाषा में लग सकता है—दो में नहीं। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत-नय का कथन यह भी है कि—शब्द का अर्थ एक समय में एक व्यक्ति एक ही ग्रहण कर सकता है—अनेक नहीं। निरर्थक शब्दों में इसकी मान्यता नहीं है जबकि शब्द-नय सार्थक शब्दों में भी विश्वास रखता है और उपयोग-शून्य आवश्यक को अवस्तु मानता है। द्रव्यावश्यक तो दुर्लभ-बोधि अनन्त-संसारी मायी और मिथ्यादृष्टि भी करता है किन्तु उससे कोई परमार्थ नहीं सधता। अतः यह कूटकार्षापण की तरह अवस्तु है। वस्तुतः भावावश्यक ही परमार्थ साधक है, अतः जिज्ञासु को उसी की सम्यक् निष्ठ होकर उपासना करनी चाहिए।

अग्रसर होते जा रहे है, क्षयोपशम जन्य समस्त ज्ञान के धारक हैं, और इस ससार-समर में भी पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले है, उन्हे 'जिन' कह सकते हैं। 'अवधि' तथा 'मन' पर्याय ज्ञान होने के पश्चात् इसी भव में जिन्हे केवल-ज्ञान भी अवश्य प्राप्त कर लेना है, उन्हे 'केवली' कह सकते हैं।

घन-घातिक कर्म दलिको का जिगीपु, तथा केवल-ज्ञान 'लक्ष्मी' के ईप्सु अवश्य ही तीन लोक के पूज्य व विश्ववद्य बन ही जाते हैं। अत उन्हे 'अर्हन्' कह सकते हैं और अरिहन्त को 'सिद्ध' कह सकते हैं।

अथवा बारहवें गुण-स्थानवर्ती को 'जिन', 'केवली', 'अर्हन्' कह सकते हैं, क्योकि अन्तर्मुहूर्त में उन्हे केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेना है। अत उन्हे पच-परमेष्टी के पहले पद मे सम्मिलित कर सकते हैं, अर्थात्—उन्हे 'अरिहन्त' कह सकते हैं।

चौदहवे गुण-स्थानवर्ती अरिहन्त को सिद्ध कह सकते हैं, क्योकि वहाँ का कालमान पूर्ण होने के पश्चात् सिद्ध गति को ही प्राप्त करना शेष रह जाता है, अत वे सिद्ध भगवन्त ही हैं। यदि कोई चार ज्ञान का धारक है, तो उसे समभिरुढ-नय चार ज्ञान का धारक नही मानता। जिस ज्ञान में उपयोग लगा हुआ होगा, उसी को धारक मानता है। यह नय 'आगमधर' उसी को मानता है, जिसका उपयोग 'सूत्र' तथा 'अर्थ' मे सलग्न है, और अध्ययन किये जाने वाले विषय को 'आगम' मानता है। उपयोग शून्य अध्ययन और अध्येता को 'आगम' या 'आगमधर' नही मानता। जो साधक जिस सूत्र का उपयोग-पूर्वक एव अर्थ-युक्त अध्ययन

पथभूम-नप

विद्या-चविद्याम चदम्मृता नया बदन् ।

— इशावास्योप तख ना

उत्पन्न दधि-भावेन,
नष्ट दुग्धतया पयः ।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन्,
स्याद्वाद-विद् जनोऽपि कः ॥

— उपाध्याय यशोविजय

"दूध, दधि-रूप से उत्पन्न हुआ है और दूध-रूप से नष्ट हुआ है, किन्तु गोरस-रूप से स्थिर है—यह वस्तु तत्त्व का रहस्य कोई स्याद्वाद-वेत्ता ही जान सकता है, अन्य नही ।"

१३

एवभूत-नय

समभिरूढ-नय का वक्तव्य समाप्त होने के पश्चात् अध्यापक ने छात्रों को 'एवभूत-नय की व्याख्या करने का निदश दिया। जिसके अनुसार सातों छात्रों ने अपने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रथम छात्र

प्रथम छात्र ने कहा— 'शब्दानां स्वप्रवृत्ति-निमित्तभूत-क्रिया विशिष्टमर्थ वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवभूत इति । —१

अर्थात्—इन्दनादि क्रिया विशिष्ट इन्द्र आदि व्यक्ति का पिण्ड हो या न हो परन्तु इन्द्रादि का व्यपदेश लोक मे तथा व्याकरण मे 'रूढ' है अत समभिरूढ का यह अभिमत है कि—रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति शोभा मात्र ही है। 'व्युत्पत्ति रहिता शब्दा रूढा इति वचनात्' किन्तु एवभूत-नय को यह अर्थ अभीष्ट नही है। क्योंकि उसका कहना है कि—जिस समय 'इन्दन आदि क्रिया से विशिष्ट इन्द्र होगा उस काल

१—नय-प्रदीप

"एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यजनार्थ-विशेषणः ।
राज-चिन्है र्यथाराजा, नान्यदा राज-शब्द-भाक् ॥"

—नयोपदेश, ३९

"जिस काल मे जो क्रिया हो रही है, उस काल में उस क्रिया से सम्बद्ध विशेषण किंवा विशेष्य नाम का व्यवहार कराने वाला विचार 'एवभूत-नय' कहलाता है।"

पीछे पूर्वोक्त शब्दों का प्रयोग करना इस नय को मान्य नहीं है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा— 'व्यञ्जनार्थयोरेवंभूतः'। —१

अर्थात्—'व्यंजन' शब्द और अर्थ अभिधेय इन दोनों का यथार्थ कथन करने वाले अध्यवसाय को 'एवंभूत-नय' कहते हैं। वस्तुतः इस शब्द का वाच्यार्थ यही है और इस अर्थ का प्रतिपादक भी यही शब्द है। इस तरह से वाच्य और वाचक के सम्बन्ध की अपेक्षा रखकर तत्क्रिया विशिष्ट वस्तु के ग्रहण करने को एवंभूत-नय कहते हैं अथवा वाचक और उसके वाच्य की परस्पर में अपेक्षा रखकर ग्रहण करने वाले अध्यवसाय को एवंभूत-नय कहते हैं।

विशेष रूप से गहराई में जाने वाली बुद्धि जब अंत तक गहराई में पहुँच जाती है तब वह विचार करती है कि—यदि व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद माना जा सकता है तब तो ऐसा भी मानना चाहिए, कि जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

इस कल्पना के अनुसार किसी समय राज-चिन्हों से शोभित होने की योग्यता को धारण करना अथवा मनुष्य रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त कर लेना इतना मात्र ही 'राजा या नृप' कहलाने के लिए पर्याप्त नहीं अपितु राजा

१—तत्त्वार्थ भाष्य

मे ही वह 'इन्द्र' शब्द का वाच्य है, उससे रहित काल मे नही ।

यद्यपि भाष्य आदि व्याकरण-शास्त्र के ग्रन्थो मे जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध और यदृच्छा, पांच प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति कही है, तथापि वे सब व्यवहार मात्र ही हैं—निश्चय से नही । समभिरूढ-नय व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद तक ही सीमित है, किन्तु एवभूत-नय कहता है कि—जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस 'शब्द' का वह 'अर्थ' मानना चाहिए । जिस शब्द का जो अर्थ होता हो, उसके होने पर ही शब्द का प्रयोग करना, 'एवभूत-नय' है ।' जैसे जो शोभित होता है, वह 'इन्द्र' है । इस व्युत्पत्ति को दृष्टि मे रखते हुए, जिस समय वह इन्द्रासन पर शोभित हो रहा हो, उसी समय उसे 'इन्द्र' कहना चाहिए । शक्ति का प्रयोग करते समय उसे 'शक्र' कहना चाहिए, 'इन्द्र' नही । इन्द्राणी के साथ क्रीडा करते समय उसे 'शचीपति' कहना चाहिए । आगे-पीछे अन्यकाल मे 'शचीपति' का प्रयोग करना इस नय को अभीष्ट नही है ।

वाणिज्य करते हुए को 'वणिक्' कहना, भक्ति करते हुए को 'भक्त' कहना, सेवा करते हुए को 'सेवक' कहना, तप करते हुए को 'तपस्वी' कहना, मनन करते हुए को 'मुनि' कहना, तथा अनुप्रेक्षापूर्वक अध्ययन करते हुए को 'अध्येता' कहना ही इस नय को अभीष्ट है । आगे और

पंचम छात्र

पाँचवें छात्र ने कहा—

'वंजण अत्थं तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ ।'—१

अर्थात्—जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त किया जाए उसे व्यंजन (शब्द) कहते हैं। वह व्यंजन जिस अभिधेय वस्तु को बतलाता है, उसे अर्थ कहते हैं। शब्दार्थ के मिलित रूप को तदुभय कहते हैं। अस्तु, जो शब्द अर्थ को विशेषित करता हो वह एवंभूत-नय है।

एवं = इसी प्रकार भूत = तुल्य जैसा अर्थात्—जो पदार्थ अपने गुणों से पूर्ण हो जिस क्रिया के योग्य हो उसी में लगा हो—अर्थात् वही क्रिया करता हो और उसी क्रिया में उसके परिणाम हो उसे 'एवंभूत-नय' कहते हैं। जैसे—घड़ा पानी से भरा हो घट-घट शब्द कर रहा हो उसी समय एवंभूत-नय उसे 'घड़ा' कहेगा न कि घर में पड़े हुए रिक्त घट को। वास्तव में देखा जाए तो जब विवक्षित भाजन विशेष पानी से भरा हुआ हो घट-घट शब्द कर रहा हो ऐसी चेष्टा करने से ही उस भाजन-विशेष की 'घट' संज्ञा प्रसिद्ध हुई है। जब वह घट वही क्रिया कर रहा हो जिससे उसकी 'घट संज्ञा प्रसिद्ध हुई, तभी एवंभूत-नय उसे 'घट' मानता है। निश्चेष्ट पड़े रहने से उसे 'घट' नहीं कहा जा सकता। एवंभूत-नय अशरीरी आत्मा को ही मुक्तात्मा मानता है।

प्रश्न—'जीव नोजीव अजीव तथा नोअजीव—इस प्रकार से इन चारों में यदि केवल शुद्ध पद का ही

१—अनुयोग द्वार सूत्र।

जबकि वे इन्दनादि क्रियाओ मे परिणत हो । जैसे—एवभूत-नय 'इन्दन' क्रिया का अनुभव करते समय ही 'इन्द्र' को इन्द्र शब्द का वाच्य मानता है, और 'शक' क्रिया मे परिणत होने पर ही 'शक्' को शक् शब्द का वाच्य स्वीकार करता है, अन्यथा नही । इस सम्बन्ध मे यह कहा भी गया है कि—

"यदेवार्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थं सत् ।
यच्चनार्थक्रियाकारि, तदेव परतोऽप्यसत् ॥"

अर्थात्—जो अर्थ क्रियाकारी है, वही परमार्थ मे सत् है, और जो अर्थ क्रियाकारी नही है, वह असत् । चुम्बक को 'चुम्बक' तभी कहा जा सकता है, जबकि वह लोहे को आकर्षित कर रहा हो। आगमधर को 'आगमधर' तभी मानता है, जबकि उसके याग और उपयोग आगम मे ही सलग्न हो, अन्यथा नही ।

यह नय अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय मानता है। वाचना, पृच्छना, पयटना तथा धम-कथा को नही । जिस विपय की अनुप्रेक्षा की जा रही हो, उसी को 'आगम' मानता है । जब ज्ञान मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'ज्ञानी' मानता है । जब दशन म उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'दर्शनी' मानता है । जब चारित्र की आराधना मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उमे 'चारित्रवान्' मानता है । तात्पर्य यह है कि ममभिरूढ-नय ने वस्तु की जो सज्ञा स्वीकार की है, उसी को एवभूत-नय जिस वस्तु की जैसी सज्ञा है, यदि वह वैसी ही क्रिया करे, तो उसको वस्तु मानता है । क्रिया-रहित सज्ञा को वस्तु नही मानता ।

अर्थात्—जो शब्द को अर्थ से और अर्थ को शब्द से विशेषित करता है वह 'एवंभूत-नय' है। जैसे—'घट' शब्द चेष्टा अर्थ वाली 'घट' धातु से बना है। अतः इसका अर्थ यह है कि—जो जल-धारण आदि क्रिया की चेष्टा करता है वह 'घट' है।

इसलिए एवंभूत-नय के मत से 'घट' अर्थ तभी घट शब्द का वाच्य होगा जबकि वह जल-धारण आदि क्रिया करता हो अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जीव को तब ही सिद्ध कहा जा सकता है जब वह समस्त कर्मों का सर्वथा विनाश करके मोक्ष में विराजमान हो जाए। तात्पर्य यह है कि एवंभूत-नय में उपयोग-सहित क्रिया की प्रधानता है। इस नय के मत से वस्तु तभी पूर्ण होती है जबकि वह अपने सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—'यत्क्रिया विशिष्टः शब्देनाभ्यते तामेव क्रियां कुर्वद् एवंभूतमुच्यते'।—१

अर्थात्—जिस क्रिया का जो बोधक शब्द है उसी क्रिया को करते हुए वस्तु को वस्तु मानने वाला 'एवंभूत-नय' है। समभिरूढ-नय इन्द्रनादि क्रिया के होने या न होने पर इन्द्र आदि को इन्द्र आदि शब्दों के वाच्य मान लेता है क्योंकि वे शब्द अपने वाच्यों के लिए रूढ हो चुके हैं। परन्तु एवंभूत नय इन्द्रादि को इन्द्रादि शब्दों के वाच्य तभी मानता है

१—नय रहस्य प्रकरण।

तो उसी समय कहलाने योग्य है, जबकि सचमुच राज-दण्ड को धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो। इसी प्रकार 'नृप' तब कहना चाहिए, जब वह प्रजा का रक्षण कर रहा हो।

अर्थात्—किसी व्यक्ति के लिए 'राजा' या 'नृप' शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा, जबकि उसमे शब्द-व्युत्पत्ति से सिद्ध हुआ अर्थ घटित हो रहा हो। इसी रीति से जब अध्यापक पढा रहा हो, तभी उसे 'अध्यापक' कहा जा सकता है। जब तन्तुवाय वस्त्र बुन रहा हो, तभी उसे 'तन्तुवाय' कह सकते हैं, अन्यथा नही। इसी प्रकार साधना-परायण व्यक्ति को 'साधक,' अध्ययन परायण व्यक्ति को 'अध्येता' कहा जायगा।

साराश मे यह कथन पर्याप्त है कि जब भी कोई क्रिया हो रही हो, उसी समय उससे सम्बन्वित विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने की मान्यताएँ 'एवभूत-नय' की कहलाती है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"व्यञ्जनार्थविशेषान्वेषणपरोऽध्यवसायविशेष एवभूत"।—१

अर्थात्—"जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटने पर ही उस वस्तु को उस रूप मे मानता है, अन्यथा नही, वह 'एवभूत-नय है।"

शब्द से कही हुई क्रियादि चेष्टाओ से युक्त वस्तु को ही शब्द का वाच्य मानने वाला 'एवभूत-नय' है।

१—नय रहस्य प्रकरण।

पंचम छात्र

पाँचवें छात्र ने कहा—

'वंजण अत्थं तदुभय एवंभूओ विसेसेइ' ।—१

अर्थात्—जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त किया जाए उसे व्यंजन (शब्द) कहते हैं। वह व्यंजन जिस अभिधेय वस्तु को बतलाता है, उसे अर्थ कहते हैं। शब्दार्थ के मिलित रूप को तदुभय कहते हैं। अस्तु, जो शब्द अर्थ को विशेषित करता हो वह एवंभूत-नय' है।

एवं = इसी प्रकार भूत = तुल्य जैसा अर्थात्—जो पदार्थ अपने गुणों से पूर्ण हो जिस क्रिया के योग्य हो उसी में लगा हो—अर्थात् वही क्रिया करता हो और उसी क्रिया में उसके परिणाम हों उसे एवंभूत-नय' कहते हैं। जैसे—घड़ा पानी से भरा हो घट-घट शब्द कर रहा हो उसी समय एवंभूत-नय उसे 'घड़ा' कहेगा न कि घर में पड़े हुए रिक्त घट को। वास्तव में देखा जाए तो जब विवक्षित भाजन विशेष पानी से भरा हुआ हो घट-घट शब्द कर रहे हो ऐसी चेष्टा करने से ही उस भाजन-विशेष की 'घट' संज्ञा प्रसिद्ध हुई है। जब वह घट वही क्रिया कर रहा हो जिससे उसकी 'घट' संज्ञा प्रसिद्ध हुई, तभी एवंभूत-नय उसे 'घट' मानता है। निरुद्यम पड़े रहने से उसे 'घट' नहीं कहा जा सकता। एवंभूत-नय अशरीरी आत्मा को ही शुद्धात्मा मानता है।

प्रश्न—'जीव नोजीव अजीव तथा नोअजीव—इस प्रकार से इन चारों में यदि केवल शुद्ध पद का ही

१—अनुयोग द्वार सूत्र।

जबकि वे इन्दनादि क्रियाओ मे परिणत हो। जैसे—एवभूत-नय 'इन्दन' क्रिया का अनुभव करते समय ही 'इन्द्र' को इन्द्र शब्द का वाच्य मानता है, और 'शक' क्रिया मे परिणत होने पर ही 'शक्' को शक् शब्द का वाच्य स्वीकार करता है, अन्यथा नही। इस सम्बन्ध मे यह कहा भी गया है कि—

"यदेवार्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थं सत्।
यच्चनार्थक्रियाकारि, तदेव परतोऽप्यसत्॥"

अर्थात्—जो अर्थ क्रियाकारी है, वही परमार्थ में सत् है, और जो अथ क्रियाकारी नही है, वह असत्। चुम्बक को 'चुम्बक' तभी कहा जा सकता है, जबकि वह लोहे को आकर्षित कर रहा हो। आगमधर को 'आगमधर' तभी मानता है, जबकि उसके योग और उपयोग आगम मे ही सलग्न हो, अन्यथा नही।

यह नय अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय मानता है। वाचना, पृच्छना, पयटना तथा धम-कथा को नही। जिस विषय की अनुप्रेक्षा की जा रही हो, उसी को 'आगम' मानता है। जब ज्ञान मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'ज्ञानी' मानता है। जब दशन मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'दर्शनी' मानता है। जब चारित्र की आराधना मे उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'चारित्रवान्' मानता है। तात्पर्य यह है कि समभिरूढ-नय ने वस्तु की जो सज्ञा स्वीकार की है, उसी को एवभूत-नय जिस वस्तु की जैसी सज्ञा है, यदि वह वैसी ही क्रिया करे, तो उसको वस्तु मानता है। क्रिया-रहित सज्ञा को वस्तु नही मानता।

कतिपय दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि एवंभूत-नय के अनुसार सिद्ध भगवन्तों को ही 'जीव' कह सकते हैं क्योंकि वे भाव प्राणों के धारक हैं। वे भाव प्राण ये हैं—अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख और अनन्त बल-वीर्य। द्रव्य प्राणों के धारण करने वालों को तो केवल व्यवहार से ही जीव कह सकते हैं निश्चय से नहीं।

यह कथन युक्ति-युक्त नहीं हो सकता क्योंकि एवंभूत-नय की यह मान्यता है कि—जो औदयिक भाव में स्थित हैं उन्हीं को 'जीव' कह सकते हैं। जो क्षायिक भाव तथा पारिणामिक भाव में स्थित हैं उन्हें 'जीव' नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है—'एवंभूतस्य जीवप्राय औदयिक भावग्राहकत्वात्।'

प्रश्न—यदि 'जीव' के औदयिक भाव ही एवंभूत-नय को अभिप्रेत हैं तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मलयगिरि आदि आचार्यों ने भी सिद्धों को 'जीव' कहा है यह किस भाव से कहा?

उत्तर—पाँच भावों को ग्रहण करने वाले—नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द और समभिरूढ इन्हीं छह नयों के अभिप्राय से कहा गया है न कि एवंभूत-नय के अभिप्राय से।

नो जीव'—इस शब्द के द्वारा दो अर्थों का बोध होता है—एक तो जीव से भिन्न पदार्थ और दूसरा जीव का अंश। क्योंकि 'नो शब्द-सर्व-प्रतिषेध में तथा ईषत् प्रतिषेध

उच्चारण किया जाए, तो नैगम आदि नयो मे से किस नय के द्वारा कौन-से अर्थ का बोध कराया जाता है ?

उत्तर—'जीव' ऐसा उच्चारण करने पर देशग्राही नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ , इन नयो के द्वारा चार गतियो मे से किसी भी गति मे रहने वाले 'जीव' का बोध होता है। क्योकि यह नय 'जीव' शब्द से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाच प्रकार के भावो मे से यथा सम्भव भावो को धारण करने वाला है । अत वह 'जीव' है ।

'जीवतीति जीव ' अर्थात्—जो प्राणो को धारण करने वाला है, उसे जीव कहते है । जिनका सयोग होने पर यह व्यवहार हो कि 'यह जीवित है' , और जिनका वियोग हो जाने पर यह व्यवहार हो कि 'यह मर गया' , उनको 'प्राण' कहते है । किसी भी गुण-स्थान मे स्थित आत्माएँ किसी न किसी द्रव्य प्राणो से अधिष्ठित हैं, अत उन्हे जीव कह सकते है ।

उपर्युक्त कथन के अनुसार दे द्रव्य-प्राण ये है—पाच इन्द्रियां, तीन योग, श्वासोच्छ्वास, और आयुर्बल-प्राण । इस सम्बन्ध मे एवभूत नय की यह मान्यता है कि 'जीव' शब्द का उच्चारण करने पर चतुर्गति रूप ससार मे रहने वाले 'जीव-द्रव्य' का ही बोध होता है, सिद्ध अवस्था प्राप्त करने वाले का बोध नही होता । क्योकि सिद्ध-पर्याय मे उक्त प्राणो का धारण नही होता, अत 'जीव' शब्द से 'ससारी जीव' का ही ग्रहण होता है, मुक्तात्माओ का नही ।

कतिपय दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि एवंभूत-नय के अनुसार सिद्ध भगवन्त को ही 'जीव' कह सकते हैं क्योंकि वे भाव प्राणों के धारक हैं। वे भाव प्राण ये हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल-वीर्य। इन प्राणों के धारण करने वाला जो तो केवल व्यवहार से ही जीव कह सकते हैं निश्चय से नहीं।

यह कथन युक्ति-युक्त नहीं हो सकता क्योंकि एवंभूत-नय की यह मान्यता है कि—जो औदयिक भाव में स्थित हैं उन्हीं को जीव कह सकते हैं। जो क्षायिक भाव तथा पारिणामिक भाव में स्थित हैं उन्हें जीव नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है—एवंभूतस्य जीवप्राय औदयिक भावग्राहकत्वात्।

प्रश्न—यदि जीव के औदयिक भाव ही एवंभूत-नय को अभिप्रेत है तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मलयगिरि आदि आचार्यों ने भी सिद्धों को जीव कहा है यह किस भाव से कहा?

उत्तर—पाँच भावों का ग्रहण करने वाले—नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द और समभिरूढ़ इन्हीं छह नयों के अभिप्राय से कहा गया है न कि 'एवंभूत-नय' के अभिप्राय से।

नो जीव—इस शब्द के द्वारा दो अर्थों का बोध होता है—एक तो जीव से भिन्न पदार्थ और दूसरा जीव का अंश। क्योंकि 'नो' शब्द-सर्व प्रतिषेध में तथा ईषत् प्रतिषेध में भी आता है। जब सर्व प्रतिषेध अर्थ विवक्षित हो

तब 'नो जीव' का अर्थ जीव-द्रव्य से भिन्न कोई भी वस्तु, ऐसा समझना चाहिए।

जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीव-द्रव्य का अश ग्रहण करना चाहिए। अश भी दो प्रकार के होते हैं— (क) देश रूप, और (ख) प्रदेश रूप। देश-रूप अश—नैगम से है। और प्रदेश-रूप अश को शब्द-नय पर्यन्त सभी नय स्वीकार करते हैं। किन्तु समभिरूढ तथा एवभूत, इन दो नयो को 'नो जीव' शब्द का 'ईषत् प्रतिषेध' अर्थ अभीष्ट नही है।

'अजीव'— इस शब्द से पुद्गल आदि अजीव द्रव्य का ही ग्रहण होता है, क्योकि यहां पर अकार सर्व-प्रतिषेधवाची है। नञ् रूप प्रतिषेध के दो अर्थ होते हैं—एक 'प्रसज्य' और दूसरा 'पर्युदास'। प्रसज्य पक्ष मे 'नञ्' का अर्थ सर्व प्रतिषेध, और पर्युदास के पक्ष मे 'तद्भिन्न' और 'तत्सदृश' अर्थ होता है।

"पर्युदास सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्"—इस नियम के अनुसार एवभूत के बिना सभी नय 'अजीव' शब्द का 'सर्व प्रतिषेध' अर्थ करते हैं। अत जीव से भिन्न पुद्गल आदि अर्थ ही उन्हे अभिप्रेत हैं, किन्तु एवभूत-नय को 'अजीव' शब्द का अर्थ सिद्ध भगवन्त और पुद्गल आदि दोनो ही मान्य हैं। प्रसज्य की अपेक्षा से पुद्गल आदि, तथा पर्युदास की अपेक्षा से सिद्ध भगवन्त समझना चाहिए।

'नो अजीव'—इस शब्द से दो अर्थों का बोध होता है। जब 'नो अजीव' और 'अ', इन दोनो का अर्थ सर्व-प्रतिषेध होगा, तब 'नो अजीव' का अर्थ भवस्थ जीव-द्रव्य ही

समझना चाहिए, क्योंकि— दो निषेधों प्रकृत गमयत अर्थात्—निषेध का निषेध करने से प्रकृत-स्वरूप का बोध हो जाता है। जब नो' का अर्थ ईषत् निषेध और अ' का अर्थ सब निषेध होगा तब नो अजीव' का अर्थ जीव-द्रव्य का देश प्रदेश समझना चाहिए।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—

एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते।
क्रिया-भेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते ॥ —१

अर्थात्—एक शब्द का जो भी वाच्य है वही का वही अर्थ सदा नहीं रहता प्रत्युत क्रिया-भेद से अर्थ में भेद हो जाता है ऐसा एवंभूत-नय मानता है।

शब्द के अभिधेय वाच्यार्थ को क्रिया की परिणति के समय में ही वस्तु मानना अन्य समय में नहीं। ऐसा अभिमत प्रस्तुत नय का है।

एवंभूत-नय समभिरूढ-नय को शिक्षा देते हुए कहता है कि—जब आपने संज्ञा-भेद से वस्तु-भेद मान लिया तो क्रिया भेद से भी वस्तु भेद होता है, ऐसा क्यों नहीं मान लेते? यदि देखा जाय तो वस्तुत क्रिया' ही वस्तु में भेद डालने वाली है। जब 'वस्तु क्रिया में प्रवेश करती है तभी उसे वस्तु कहा जाता है। जैसे—'घटते चेष्टते वा तदेव घट अर्थात्—जो वर्तमान काल मे चेष्टा कर रहा है वह 'घट है। जो पहले चेष्टा कर चुका या अनागत काल में चेष्टा

१—सन्मति तर्क टीका।

तब 'नो जीव' का अर्थ जीव-द्रव्य से भिन्न कोई भी वस्तु, ऐसा समझना चाहिए।

जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीव-द्रव्य का अंश ग्रहण करना चाहिए। अंश भी दो प्रकार के होते हैं—(क) देश रूप, और (ख) प्रदेश रूप। देश-रूप अंश—नैगम मे है। और प्रदेश-रूप अंश को शब्द-नय पर्यन्त सभी नय स्वीकार करते हैं। किन्तु समभिरूढ तथा एवभूत, इन दो नयों को नो जीव' शब्द का 'ईषत् प्रतिषेध' अर्थ अभीष्ट नही है।

'अजीव'— इस शब्द से पुद्गल आदि अजीव द्रव्य का ही ग्रहण होता है, क्योंकि यहाँ पर अकार सर्व-प्रतिषेधवाची है। नञ् रूप प्रतिषेध के दो अर्थ होते हैं—एक 'प्रसज्य' और दूसरा 'पर्युदास'। प्रसज्य पक्ष मे 'नञ्' का अर्थ सर्व प्रतिषेध, और पर्युदास के पक्ष मे 'तद्भिन्न' और 'तत्सदृश' अर्थ होता है।

पर्युदास सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्"—इस नियम के अनुसार एवभूत के बिना सभी नय 'अजीव' शब्द का 'सर्व प्रतिषेध' अर्थ करते है। अत जीव से भिन्न पुद्गल आदि अर्थ ही उन्हे अभिप्रेत है किन्तु एवभूत-नय को 'अजीव' शब्द का अर्थ सिद्ध भगवन्त और पुद्गल आदि दोनो ही मान्य है। प्रसज्य की अपेक्षा से पुद्गल आदि, तथा पर्युदास की अपेक्षा से सिद्ध भगवन्त समझना चाहिए।

'नो अजीव'—इस शब्द से दो अर्थों का बोध होता है। जब 'नो अजीव' और 'अ', इन दोनो का अर्थ सर्व-प्रतिषेध होगा तब 'नो अजीव' का अर्थ भवस्थ जीव-द्रव्य ही

करके बहुमत बन गया हो और साथ ही शुद्ध भाव से 'महामुत्त महातच्च महाकप्प महामम्म' के अनुसार उपयोग सहित चारित्र का पालन करने वाला भी हो तभी उसे आगमधर मानता है।

सप्तम सूत्र

सातवें सूत्र मे एवभूत-नय का विवेचन करते हुए कहा कि—

> एव जह सद्दत्थो सतो भूमो तदन्नहाऽभूमो।
> तेणेवंभूयनमो सद्दत्थ-परो विसेसेण' ॥—१

अर्थात्—जो 'शब्द' जिस अर्थ का बोधक है और वह वस्तु भी वैसी ही क्रिया कर रही हो तभी उस वाच्य का वह शब्द वाचक हो सकता है जैसे 'गच्छतीति गौ' अर्थात्—जो चले उसे 'गौ' कहते है। जब वह खड़ी हो या बैठी हो तो उसे 'गौ' नही कहते। इसी प्रकार आशुगामित्वात् अश्व अर्थात्—जो शीघ्र चले उसे 'अश्व' कहते है। जब रसोई बना रहा हो तभी उसे 'रसोइया' कह सकते है। प्रदीप शब्द से दीपन-क्रिया से उपेत अर्थ ही अभिप्रेत है। दीपन-क्रियाहीन दीप को दीप नही मानता। इस नय में उपयोग सहित क्रिया की ही मुख्यता है। एवमूत-नय के मत मे एक पर्याय के अभिधेय होने पर भी एक ही पर्याय का वाचक जो शब्द है वही एक शब्द उस अभिधेय का वाचक है क्योंकि विद्यमान भाव ही निश्चय से आत्मीय कार्य के

१—विशेषावश्यक भाष्य

करेगा, उसे 'घट' नही कहा जा सकता है। यदि उसे भी 'घट' कहा जाए, तो सभी वस्तुओ को 'घट' होने का प्रसग आ जाएगा।

एवभूत-नय— जभी जिस वस्तु की सज्ञा हो, वह वैसी ही क्रिया करता हो, वैसे ही अध्यवसाय मे प्रवृत्त भी हो।' ये तीनो अपने गुणो मे पूर्ण होकर उस गुण के अनुसार क्रिया मे प्रवृत्त हो, और द्रव्य गुण पर्याय तथा वस्तु-धर्म सर्व प्रत्यक्ष होते हो, तभी उसे 'वस्तु' कहेगा। अशमात्र भी गुण न्यून होने पर उसे 'वस्तु' नही मानेगा।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जब ध्यानस्थ होकर भी मानसिक रणागण मे घोर सग्राम कर रहे थे, तब उसे एवभूत-नय 'युद्ध वीर' मानता है, 'शान्तवीर' और 'मुनीश्वर' नही। क्योकि यह नय सर्व-प्रथम मानसिक वृत्तियो को प्रधानता देता है, और वचन एव शरीर को गौणता। मानसिक वृत्तियोके बिना केवल वचन और काय निर्बल है। व्यावहारिक दृष्टि से वचन और काय सबल है। निश्चय दृष्टि मे मन प्रबल है, क्योकि गुण स्थानो का आरोहण भावो मे होता है, न कि वाणी और काय से। तन्दुल मत्स्य सातवी नरक की स्थिति मन से ही बाधता है। समनस्क मनुष्य ही छब्बीस व देव लोक तक की स्थिति बाध सकते हैं—अन्य नही।

एवभूत-नय उपयोग-शून्य आगम-पाठी को 'आगमधर' नही मानता, जब तक कि ज्ञान के साथ चारित्र का सम्बन्ध नही होता। वस्तुत ज्ञान का फल भी चारित्र है। अत यह सिद्ध हुआ कि—जो व्यक्ति आगमो का अध्ययन

माणे छिन्ने ? भिज्जमाणे भिन्ने ? दज्झमाणे दड्ढे ? मिज्जमाणं मडे ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ? हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।

अर्थात्—हे भगवन् ! जो चल रहा हो वह चला। जो उदीरा जा रहा हो वह उदीरा गया। जो वेदा जा रहा हो वह वेदा गया। जो नष्ट हो रहा हो वह नष्ट हुआ। जो छिद रहा हो, वह छिदा। जो भिद रहा हो वह भिदा। जो जल रहा हो वह जला। जो मर रहा हो वह मरा। जो झिर रहा हो वह झिरा। इस प्रकार कहा जा सकता है—

हाँ गौतम ! जो चलता है वह चला यावत् जो निर्जर रहा है वह निर्जरा ऐसा कहना चाहिए।

यह कथन भी निश्चय-नय से समझना चाहिए। 'निश्चय-नय' ऋजुसूत्र से प्रारम्भ होकर एवंभूत में पूर्णत विकसित हो जाता है।

प्रस्तुत नय किंचित्मात्र हीन गुण को वस्तु नहीं मानता। किसी भी द्रव्य में प्रदेशों की गणना नहीं करता है। वह अखण्ड द्रव्य को ही 'वस्तु' मानता है।

अध्यापक

अध्यापक ने कहा—यद्यपि तुम सब ने यथाशक्य एवं यथासंभव एवंभूत-नय की व्याख्या बहुत सुन्दर की है तथापि एवंभूत-नय गर्भित प्रतिपाद्य विषय जोकि अपूर्ण रह गया है उसी को अभिव्यक्त करने के लिए मुझे कुछ कहना पड़ रहा है—

करने वाला देखा जाता है। अत तद्रूप वही 'वस्तु' है, अन्य नही, तथा शास्त्र मे वस्तु को 'स्वार्थ क्रियाकारी' माना गया है। सारांश इतना ही है, कि एवभूत-नय केवल 'स्वार्थ क्रियाकारी' वस्तु को ही 'वस्तु' मानता है, अर्थात्—जो अपने गुण मे पूर्ण हो, वही 'वस्तु' है। यही इस नय का तात्पर्य है। यदि यह पदार्थ कार्य न करता हुआ भी, अर्थात्—'स्वार्थ-क्रिया' न करने पर भी उस वस्तु को 'वस्तुत्वेन' मानता है, तो फिर 'पट' मे भी 'घट' शब्द की वाच्यता क्यो नही स्वीकार की जाती है? उक्त पदार्थ को इच्छा-विषयक क्यो नही किया जाता? इस प्रकार मानने मे उक्त पदार्थ ने क्या अपराध किया क्योंकि जिस प्रकार 'स्वार्थ क्रिया' न करने पर भी 'घट' घटत्व के व्यपदेश का भागी बनता है, उसी प्रकार घट-क्रिया' का अभाव वाला पट भी 'घट हो जाए। इसका कारण यह है कि—स्व-कार्य के अभाव होने से दोनो मे हो समानत्व होने से पक्ष-सम सिद्ध हो जाता है।

निश्चय नय

छठे गुण-स्थान से आगे बारहवे गुण-स्थान तक के समस्त अप्रमत्त साधको को 'साधु' मानता है। तेरहवे और चौदहवे गुण-स्थान-स्थित जीवो को 'अरिहत' मानता है। गुण-स्थान रहित जीव को 'सिद्ध भगवान्' मानता है।—१

"से नूगा भते! चलमाणे चलिए? उदीरिज्जमाणे उदीरिए? वेइज्जमाणे वेइए? पहिज्जमाणे पहीणे? छिज्ज-

१—भगवती शतक १, उद्देश १,

सांख्य-दर्शन केवल द्रव्य को ही तत्त्व मानता है उसकी पर्याय को नहीं। परन्तु पर्याय भी अनुभव सिद्ध है अतः यह मत युक्ति-युक्त नहीं है।

बौद्ध-दर्शन केवल पर्याय को ही तत्त्व मानता है। इसके सिवाय अन्य किसी द्रव्य-विशेष को तत्त्व नहीं मानता। अतः बौद्धों की यह मान्यता भी युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि स्वर्ण यदि द्रव्य है तो कुण्डल कटक आदि उसके पर्याय हैं। यह अनुभव सिद्ध है।

अनेकान्त सिद्धान्त को सम्यग् रीति से विचार करने पर यह कहना कठिन हो जाता है कि जैनों की दृष्टि से अन्य दर्शन बिल्कुल असत्य हैं।—१

सम्यक् अनेकान्त समस्त दर्शनों में कथंचित् सत्यता अवश्य स्वीकार करता है। यदि हम अन्य दर्शनों को अपनी दृष्टि से ठीक नहीं समझें तो यह भी तो मिथ्या एकान्त हुआ जिसका जैनागमों में निषेध किया गया है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों शब्द सामान्य रीति से एक ही अर्थ में व्यवहृत होते हैं। मात्र जैन ही नहीं परन्तु जैनेतर बुद्धिमान वर्ग भी जैन-दर्शन व जैन सम्प्रदाय को अनेकान्त दर्शन या अनेकान्त धर्म के रूप में पहचानते हैं। वस्तुतः

१—जहाँ मिथ्यात्व का प्रश्न है वहाँ सभी असत्य हैं। किन्तु ऐसा भी सूत्र में प्रतिपादन किया है कि मिथ्या दृष्टियों के बनाए हुए ग्रन्थ भी सम्यग्दृष्टि सम्यक् रूप में परिणत कर सकता है। और वीतराग की वाणी को मिथ्या दृष्टि मिथ्यात्व रूप में परिणत कर देता है। सत्य भी असत्य बन जाता है। (नन्दी सूत्र)—लेखक

एवभूत-नय का विपय अत्यन्त गम्भीर और कठिन है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम प्रवलतर होगा, उतना ही एवभूत-नय का स्वरूप भली भाँति जाना जा सकता है। एवभूत-नय से परखे हुए विचार सिद्धान्त के रूप मे परिणत हो जाते है। जो खडित नही हो सकता, वस्तुत वही वीतराग देव का सिद्धान्त है। आलाप पद्धति मे कहा है—

"सूक्ष्म जिनोदित तत्व, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा-सिद्ध तु तद्ग्राह्य, नान्यथा वादिनो जिना ॥"—१

जिनोक्त तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, जो कि हेतुओ से खडित नही हो सकता वह तो आज्ञा से ही मान्य है। क्योकि जो रागद्वेप से रहित हैं, वे अन्यथावादी नही हो सकते। विचारो को मलिन करने वाले राग-द्वेष हैं, उनको जिन्होने सर्वथा क्षीण कर दिए, व तुरन्त सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वन जाते हैं। वे सत्यपूत होने से सत्यवादी ही होते है—अन्यथावादी नही। अन्यथावादी तो मोहग्रस्त होते हैं। द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता मे वस्तु मे सर्व धर्मों की अभेद रूप से स्थिति रहती है। और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से यह अभेद स्थिति उपचार रूप मे रहती है। अनेकान्तवाद की सूचना इन दोनो मे होती है। जैन-सिद्धान्त 'सम्यग् एकान्त' और 'सम्यग् अनेकान्त', इन दोनो को मानता है। सम्यग् एकान्त, नय का दूसरा नाम है तथा सम्यग् अनेकान्त, प्रमाण का। 'मिथ्या एकान्त' और 'मिथ्या अनेकान्त', ये दो शब्द क्रमश नयाभास और प्रमाणाभास के द्योतक हैं।

१—आलाप पद्धति।

सांख्य-दर्शन केवल द्रव्य को ही तत्त्व मानता है उसकी पर्याय को नहीं। परन्तु पर्याय भी अनुभव सिद्ध है, अत यह मत युक्ति-युक्त नहीं है।

बौद्ध-दर्शन केवल पर्याय को ही तत्त्व मानता है। इसके सिवाय अन्य किसी द्रव्य-विशेष को तत्त्व नहीं मानता। अत बौद्धों की यह मान्यता भी युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि स्वर्ण यदि द्रव्य है तो कुण्डल कटक आदि उसके पर्याय है। यह अनुभव सिद्ध है।

अनेकान्त सिद्धान्त को सम्यग् रीति से विचार करने पर यह कहना कठिन हो जाता है कि जैना की दृष्टि से अन्य दर्शन बिल्कुल असत्य है। —१

सम्यक् अनेकान्त समस्त दर्शनों म कथंचित् सत्यता अवश्य स्वीकार करता है। यदि हम अन्य दर्शनों को अपनी दृष्टि से ठीक नहीं समझें तो यह भी तो मिथ्या एकान्त हुआ जिसका आगमों में निषेध किया गया है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों शब्द सामान्य रीति से एक ही अर्थ में व्यवहृत होते है। मात्र जैन ही नहीं परन्तु जनेतर बुद्धिमान वर्ग भी जैन-दर्शन व जैन सम्प्रदाय को अनेकान्त दर्शन या अनेकान्त धर्म के रूप में पहचानते है। वस्तुत

१—जहाँ मिथ्यात्व का पक्ष है, वहाँ सभी असत्य है। किन्तु ऐसा भी सूत्र में प्रतिपादन किया है कि मिथ्या दृष्टियों के बनाए हुए ग्रन्थ उन्हें सम्यग्दृष्टि सम्यक् रूप में परिणत कर सकता है। और वीतराग की वाणी को मिथ्या दृष्टि मिथ्यात्व रूप में परिणत कर देता है। सत्य भी असत्य बन जाता है। (नन्दी सूत्र)—लेखक

अनेकान्त एक प्रकार की विचार पद्धति है। यह सब दिशाओं तथा सब ओर से खुला रखा एक मानस चक्षु है। ज्ञान के, विचार के, और आचरण के किसी भी विषय को वह केवल एकांगी दृष्टि से देखने के लिए निषेध करता है, और जितना शक्य हो, उतने ही अधिक दृष्टिकोणों से, अधिक से अधिक पहलुओं से, और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से वह सब कुछ विचारने और आचरण करने का पक्षपाती रहता है। उसका यह पक्षपात भी केवल सत्य पर ही आश्रित है।

अनेकान्त के जीवन का अर्थ है—उसके आगे पीछे और भीतर सर्वत्र सत्य का यथार्थ प्रवाह। अनेकान्त केवल कल्पना ही नहीं है, अपितु वह एक तत्त्व-ज्ञान भी है, और आचरण का विषय होने से वह धर्म भी है। अनेकान्त की विशेषता इसी में है कि वह जैसे दूसरे विषयों को सब ओर से तटस्थ रूप से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है उसी प्रकार वह अपने स्वरूप और जीवन के विषय में भी मुक्त मन से ही विचार करने के लिए तैयार रहता है। कल्पना, तत्त्व-ज्ञान और धर्म, ये तीनों मानव-जीवन की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो दूसरे किसी के जीवन में नहीं मिलतीं। परन्तु ये तीनों वस्तुएँ एक ही कोटि की या एक तरह के मूल्य वाली नहीं हैं। कल्पनाओं की अपेक्षा तत्त्व-ज्ञान का स्थान ऊचा है। इतना ही नहीं, परन्तु यह स्थायी और व्यापक भी है। धर्म का स्थान तो तत्त्व-ज्ञान की अपेक्षा बढ़कर है, क्योंकि धर्म तत्त्व-ज्ञान का परिणाम—फलमात्र है। विभिन्न व्यक्तियों में क्षण-क्षण में नयी-नयी कल्पनाएँ

मए रूप में उद्भव होती हैं। ये सभी कल्पनाए स्थिर तथा सच्ची नही होती है। अतएव कल्पना करने वाला व्यक्ति भी अनेक बार अपने द्वारा आहत तथा पुष्ट कल्पनाओं को फेंक देता है उन्हें बदलता भी रहता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी कल्पनाओं को सत्य की कसौटी पर कसे बिना उनका सेवन तथा पोषण करता रहता है तो उन कल्पनाओं को न तो दूसरे लाग अपनाते है और न उन्हें स्वीकार ही करते है इसे दुर्नय कहते है।

इसके विपरीत यदि कोई कल्पना सत्य की कसौटी पर कसे जाने पर ठीक उतरती है और उसमें भ्रान्ति भी नही रहती तो वह कल्पना चाहे जिस नाम चाहे जिस देश और चाहे जिस जाति में उत्पन्न हुई हो फिर भी वह अपनी सत्यता के कारण सर्वत्र स्वीकृत की जाती है और स्थायी बन जाती है।

ऐसी स्थिर कल्पनाए ही तत्त्व ज्ञान स्वरूप गिनी जाती है और वे ही कही सीमाबद्ध न रहकर सार्वजनिक या बहुजन ग्राह्य सम्पत्ति बन जाती है इसी को सुनय कहते हैं। मानवीय परीक्षण शक्ति जिस तत्त्व-ज्ञान को कस कर सत्य रूप से स्वीकार करती है वही तत्त्व ज्ञान बाद में क्रमश धीमी या तीव्रगति से मानव के आचरण का विषय बनता है, और जो तत्त्व-ज्ञान विवेक पूर्वक आचरण मे आता है, वही मानव जाति का सच्चा विकासप्रद धर्म बन जाता है। जैन-धर्म वैज्ञानिक धर्म है उसमें काल्पनिक विचारों और काल्पनिक आदर्शों के लिए जरा भी स्थान नही है।

सोमिल ब्राह्मण—भगवान् महावीर से प्रश्न करता है कि भगवन् ! क्या आप यात्रा भी करते हैं ?'

भगवान् ने उत्तर दिया–'हां, मोमिल ? मैं यात्रा करता हू ।' मोमिल ने तुरन्त पूछा—कौन-सी यात्रा ?

सोमिल वाह्य जगत मे विचर रहा था। भगवान् अन्तर्जगत मे विचरण कर रहे थे।

भगवान् ने उत्तर दिया—'सोमिल ! जो तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान, और आवश्यक आदि योग की साधना मे यतना है—प्रवृत्ति है, वही मेरी यात्रा है।' कितनी सुन्दर यात्रा है ? इस यात्रा के द्वारा जीवन का कल्याण होना निश्चित है। जैन-धर्म की यात्रा का पथ जीवन के अन्दर मे से है, बाहर से नही। अनन्तानन्त साधक इसी यात्रा के द्वारा मोक्ष मे पहुँचे हैं, और पहुँचगे। सयमी साधक के लिए जीवन की प्रत्येक शुद्ध प्रवृत्ति यात्रा है, मोक्ष का माग है। भगवान् का यह कथन एवभूत-नय की दृष्टि से है।

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन का प्रसार करने वाले 'कालास्यवश्य पुत्र' नामक अनगार के प्रश्नो का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य स्थविर, भगवन्ता ने कहा—"वस्तुत अपने शुद्ध स्वरूप मे रहा हुआ आत्मा ही मामायिक है। सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध बुद्ध, मुक्त म्वरूप आत्म-तत्त्व की प्राप्ति ही है।" यह कथन भी एवभूत-नय की दृष्टि से ही समझना चाहिए। क्योकि प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म होते है। उसके एक धर्म का

देखकर निश्चय कर लेना और अन्य धर्मों का विचार न करना ही एकान्तवाद है।

आदि के तीन नय—स्व-सिद्धान्त पर-सिद्धान्त और उभय-सिद्धान्त इन तीनों को मानते हैं। ऋजुसूत्र-नय—स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त इन दोनों को मानता है उभय सिद्धांत को नहीं क्योंकि उभय सिद्धांत में जो स्व अंश है वह स्व-सिद्धान्त में गर्भित है और जो पर अंश है वह पर सिद्धान्त में। इस प्रकार उभय सिद्धांत जैसी कोई वस्तु नहीं है।

तीनों शब्द-नय केवल स्वसिद्धान्त को मानते है, पर सिद्धान्त और उभय सिद्धांत को नहीं।

वस्तु-धर्मो ह्यनेकान्त.,
प्रमाण-नय साधित. ।
अज्ञात्वा दूषण तस्य,
निज-बुद्धेर्विडम्बनम् ॥

— अनेकान्त व्यवस्था

अर्थात्—'वस्तु अनेक धर्मात्मक है, और वह प्रमाण एव नय से सिद्ध होती है। जो व्यक्ति उसके रहस्य को विना समझे ही दूषण देता है, यह उसकी बुद्धि की विडम्बना है।'

उपसंहार

जावइया वयणपहा
तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया
तावइया चेव परसमया ॥

— सन्मति तर्क—४७,

जितने प्रकार के वचन मार्ग हैं उतने ही प्रकार के नय वाद हैं। और जितने प्रकार के नय-वाद हैं उतने ही प्रकार के पर-समय अर्थात् मतान्तर हैं।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः,

प्रमाण-नय-साधन ।

अनेकान्तः प्रमाणात् ते;

तदेकान्तोऽर्पितात् नयात् ॥

— स्वयभू-स्तोत्र, १०३,

अनेकान्त भी एकान्त नही है, अर्थात् वह अनेकान्त भी है, और एकान्त भी है। प्रमाण-गोचर अनेकान्त है, और नय गोचर एकान्त है।

: १४ :

उपसंहार

'सत्त नया जिणेहिं भणिया जे सद्दहंता सम्मदिट्ठी ।
एगे पुण न सद्दहन्तो मिच्छा दिट्ठी उ नायव्वा ॥

अर्थात्—जो समुदित सप्त नयों पर श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्व-सम्पन्न है और जो एक नय को तो मानता है शेष छह नयों को नहीं मानता या छह नयों को मानता है किन्तु एक नय को नहीं मानता तो वह मिथ्या दृष्टि है ।

प्रश्न—जब प्रत्येक नय में सम्यक्त्व नहीं है तब समुदित हो जाने पर उसमें सम्यक्त्व कैसे हो सकता है ?

जबकि बालु के प्रत्येक कण में तेल का सर्वथा अभाव है तब उन कणों के समुदित हो जाने पर भी उन में तेल का सर्वथा अभाव ही रहेगा । इसका समाधान क्या है ?

उत्तर—दृष्टान्त एक-देशी होता है सर्व-देशी नहीं । जैसे एक परमाणु में कोई संस्थान नहीं होता है किन्तु उनके स्कन्ध में संस्थान का आविर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार अव्यवस्थित रूप से खड़े हुए अनेक व्यक्तियों में

पक्ति का अभाव है, किन्तु यदि वे सब व्यक्ति क्रम-बद्ध खडे हो जाएँ तो तत्काल ही पक्ति का आविर्भाव हो जाता है।

पोदीना, अजवाइन और कपूर—इन तीनो के पृथक्-पृथक् रहने पर उनमें तरलता नही होती है, परन्तु तीनो को एक शीशी मे बन्द कर के यदि धूप में रख दियाजाए, तो उनका पानी बन जाता है, जिसको अमृत धारा कहते हैं।

मशीन के समस्त कल-पुर्जे अव्यवस्थित तथा अलग-अलग पडे हो, तो किसी भी कल पुर्जे से तज्जन्य कार्य निष्पन्न नही हो सकता, और बन्द मशीन से भी कार्य निष्पन्न नही हो सकता। हाँ, यदि सभी कल पुर्जे यथास्थान व्यवस्थित हो, और साथ ही क्रियावान् भी हो, तो उस मशीन से तज्जन्य काय निष्पन्न हो सकता है। विष की सभी किस्मे पीडोत्पादक और मारक होती हैं, किन्तु सुवैद्य उनको मिलाकर एक सजीवनी औषधि बना देता है।

जैसे वैडूर्य-मणियाँ नीलत्वादि गुणयुक्त तथा विप घातक तो हैं, किन्तु वे मणियाँ महामूल्यवान् होते हुए भी यदि अव्यवस्थित पडी हो, तो उन्हे रत्नावली हार नही कहा जाता, किन्तु एक सूत्र मे पिरोने से ही रत्नावली हार कहा जाता है।—१

प्रत्येक नयेषु मिथ्यात्त्वेऽपि समुदितेपु सम्यक्त्वस्य रत्ना-वली दृष्टान्तेन समर्थनम्

१—सम्मति तक टीका।

इसी विषय को एक अन्य दृष्टान्त के द्वारा समझिए। जैसे बीज शुद्ध हो खेत भी उपजाऊ हो मौसम बीज बोने की हो कृषिक सुनिपुण हो खाद भी खासी आय समय पर वृष्टि भी होती रहे वायु भी ठीक हो सूर्य और चन्द्र का शीतोष्ण योग भी हो भाग्य भी साथ दे रहा हो तो इन सभी के योग से हर प्रकार की फसल बहुत अच्छी हो सकती है। यदि इनमें से एक कारण भी कम हो जाय तो कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

जैसे समस्त असाधारण कारण मिलकर व्यापारवान् होने से ही कार्य सिद्ध होता है वैसे ही जो विचार किसी एक नय से ओत प्रोत है किन्तु अन्य छह नयों का उसमें निषेध नहीं है अर्थात्—कोई भी नय दूसरे नयों से निरपेक्ष नहीं है बल्कि सभी नय परस्पर सापेक्ष है तो सत्य सिद्ध होता है। जो विचार सप्त नयों की परख में ठीक उतर गया वह विचार सिद्धान्त के रूप में परिणत हो जाता है।

> सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते।
> सम्भूय साधु-समयं भगवन् ! भजन्ते ॥
> भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम
> पादाम्बुजं प्रधन-युक्ति-पराजिता द्राक् ॥ —१

भगवन् ! जिस प्रकार परस्पर विरोध रखने वाले राजा सार्वभौम चक्रवर्ती के चरण सरोज की नत-मस्तक होकर सेवा करते हैं और आज्ञा पालन करते हैं उसी प्रकार ये सातों

१—नय कर्णिका २२

नय परस्पर विरोध धारण करते हुए भी जब आपके पवित्र शासन की एकीभूत होकर सेवा करते हैं, तब ये सभी शान्त भाव को धारण कर लेते है। क्योंकि आपकी वाणी अनेकान्त का द्योतक 'स्यात्" अव्यय पद से अलकृत है, जो परस्पर विरोध को मिटाने वाली है।

अतएव जिस प्रकार विरोध छोडकर राजागण चक्रवर्ती के चरण कमलो की सेवा करते है, उसी प्रकार सातो नय आपके शासन की सेवा करते है, अर्थात्—सातो नयोका समूह आपका मुख्य सिद्धान्त है जोकि जिज्ञासुओ और साधको के लिये मार्ग-प्रदर्शक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने द्वात्रिंशिका स्तोत्र मे कहा है —

"उदधाविव सर्व-सिन्धव समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ।"

हे नाथ ! जैसे समस्त नदियाँ समुद्र में आकर मिल जाती है वैसे ही विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन मे आकर मिल जाते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न नदियो मे समुद्र नही दिखाई देता, वैसे ही भिन्न-भिन्न दर्शनों में आप दिखाई नही देते, अर्थात्—आपके शासन मे सभी दर्शनो का समावेश हो जाता है। परन्तु आपका दर्शन सभी दर्शनो मे समाविष्ट नही हो सकता। यह आपके दर्शन की विशेषता है।

वर्गीकरण

(१) आदि के चार नय द्रव्यार्थिक हैं, और पीछे के

तीन नय पर्यायार्थिक । यह पक्ष आगम का है ।

(२) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के मत में व्यवहार नय तक द्रव्यार्थिक हैं और पीछे के चार नय पर्यायार्थिक कहलाते हैं ।

(३) पहला नय दूसरे नय से अधिक विषय वाला है, इसी क्रम से उत्तरवर्ती नय की अपेक्षा पूर्ववर्ती नय अधिक अधिक विषय वाला है ।

(४) पहले चार नय अर्थ प्रधान है और शेष तीन नय शब्द प्रधान ।

(५) पहले चार नय चारों निक्षेपों को स्वीकार करते हैं,शेष तीन नय केवल भाव-निक्षेप को ही स्वीकार करते हैं । इनकी मान्यता है कि पहले तीन निक्षेप अवस्तु है केवल भाव ही वस्तु है ।

(६) पहले नय से दूसरे नय अधिक विशुद्ध हैं । इसी क्रम से सातों ही नय उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर और विशुद्धतम हैं ।

(७) नैगम से लेकर व्यवहार-नय पर्यन्त व्यवहार नय है । और ऋजुसूत्र से निश्चय नय का आरम्भ होता है जो एवंभूत तक है यह मत आचार्य सिद्धसेन का है ।

(८) नैगम से ऋजुसूत्र तक व्यवहार-नय है शब्द से एवंभूत तक निश्चय-नय है यह मान्यता आगम की है ।

परिशिष्ट

ग्रन्थ हुआ सम्पूर्ण, किन्तु कुछ
फिर भी कहना बाकी है।
यह परिशिष्ट चूलिका इसमें,
शिष्ट सत्य की झाँकी है॥

दृष्टान्त त्रयी

१—प्रदेश-दृष्टान्त

(१) नैगमनय—यह नय छहों द्रव्यों के प्रदेश मानता है, जैसे—धर्म प्रदेश अधर्म-प्रदेश आकाश प्रदेश जीव प्रदेश स्कन्ध प्रदेश और देश प्रदेश।

(२) संग्रह नय—इस नय की मान्यता है कि पाँच के प्रदेश हो सकते है छह के नहीं क्योंकि देश प्रदेश तो स्कन्ध का ही अवयव है। जैसे किसी सेठ के दास ने एक खर खरीदा तब सेठ ने कहा—दास भी मेरा है और खर भी मेरा। इस न्याय से 'दास' और 'खर' दोनों सेठ के ही हुए। इसी प्रकार स्कन्ध से देश अपना कोई भिन्न अस्तित्व नहीं रखता अतः सिद्ध हुआ कि—प्रदेश पाँच के है।

(३) व्यवहार नय—यह नय संग्रह-नय से कहता है कि पाँचों के प्रदेश है—ऐसा मत कहो क्योंकि धन धान्य सुवरण एवं चाँदी —ये चारों द्रव्य पाँचों भनिक मित्रों के हैं' इस वाक्य से कई अर्थ ध्वनित होते हैं। जैसे कि

दृष्टान्त त्रयी

१—प्रदेश-दृष्टान्त

(१) नैगमनय—यह नय छहों द्रव्यों के प्रदेश मानता है जैसे—धर्म प्रदेश अधर्म-प्रदेश आकाश-प्रदेश जीव प्रदेश स्कन्ध-प्रदेश और देश प्रदेश।

(२) संग्रह नय—इस नय की मान्यता है कि पाँच के प्रदेश हो सकते हैं छह के नहीं क्योंकि देश प्रदेश तो स्कन्ध का ही अवयव है। जैसे किसी सेठ के दास ने एक खर खरीदा तब सेठ ने कहा—दास भी मेरा है और खर भी मेरा। इस न्याय से 'दास' और 'खर' दोनों सेठ के ही हुए। इसी प्रकार स्कन्ध से देश अपना कोई भिन्न अस्तित्व नहीं रखता अतः सिद्ध हुआ कि—प्रदेश पाँच के हैं।

(३) व्यवहार नय—यह नय संग्रह-नय से कहता है कि पाँचों के प्रदेश हैं—ऐसा मत कहो क्योंकि जब वाक्य सुवरण एवं चाँदी—ये चारों द्रव्य पाँचों वणिक मित्रों के हैं' इस वाक्य से कई अर्थ ध्वनित होते हैं। जैसे कि

इन चारो द्रव्यो मे पाँचो का साझा है, या ये चारो द्रव्य अलग-अलग पाँचो के पास हैं। अत यह कहना चाहिए कि प्रदेश पाच प्रकार के होते हैं, अर्थात्—धर्म के प्रदेश, अधर्म के प्रदेश आदि।

(४) **ऋजुसूत्र नय**—यह नय व्यवहार-नय से कहता है—'ऐसा मत कहो कि प्रदेश पाँच प्रकार के हैं,' क्योकि उक्त कथन से यह भी आशय निकल सकता है कि पाँचो के प्रदेश पाँच-पाँच प्रकार के है। इस तरह कहने से तो पच्चीस प्रदेशो की सभावना हो सकती है। अत यह कहना चाहिए कि प्रदेशो की भजना है। जैसे कि कथचित् धर्म-प्रदेश, कथचित् अधर्म-प्रदेश, कथचित् आकाश-प्रदेश, यावत् कथचित् स्कन्ध-प्रदेश।

(५) **शब्द-नय**—यह नय ऋजुसूत्र से कहता है—'आपके कहने से यह भी सिद्ध हो सकता है कि जो प्रदेश धर्म का है, वह कदाचित् अधर्म का भी हो सकता है। और जो प्रदेश अधम का है, वह कभी आकाश का भी हो सकता है। परन्तु ऐसा कहने से अनवस्था दोप उपस्थित हो जाएगा। अत इसके स्थान पर इस प्रकार कहना चाहिए-"धम्मे-पएसे"—धर्म-प्रदेश, अर्थात्-'धर्मात्मक प्रदेश।

प्रश्न—यह धम-प्रदेश अखण्ड धर्मास्तिकाय से भिन्न है, या अभिन्न ?

उत्तर—'से पएसे धम्मे', अर्थात् धर्म सप्रदेश धर्मास्तिकाय एक ही द्रव्य है। धर्म प्रदेश सकल धर्मास्तिकाय

से भिन्न नहीं है अतः धर्म प्रदेश धर्मात्मक ही है।

प्रश्न—जैसे जीव के एक प्रदेश को भी 'जीव' कहते हैं वैसे ही धर्म के एक प्रदेश को 'धर्म' क्यों नहीं कहा जाता?

उत्तर—एक जीवास्तिकाय में जीव-द्रव्य परस्पर भिन्न तथा अनन्त हैं। यह प्रदेश समस्त जीवास्तिकाय एक देश होने से जीवात्मक है। ऐसा हम कह सकते हैं क्योंकि नो जीव में 'नो' शब्द देशवाची है अर्थात्—एक जीव समस्त जीवास्तिकाय का एक देश है। जो एक जीवद्रव्यात्मक प्रदेश है वह अनन्त जीवद्रव्यात्मक समस्त जीवास्तिकाय में कैसे रह सकता है? इसी प्रकार नो-स्कन्ध को भी समझ लेना। क्योंकि स्कन्ध द्रव्यों के अनन्त होने से एक देशवर्ती को 'नो-स्कन्ध' कहते हैं।

(६) समभिरूढ-नय—यह नय शब्द-नय को सम्बोधित करते हुए कहता है कि—तुम्हारा कथन भी पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि 'धर्म-प्रदेश' इस समस्त पद में दो समासों की सम्भावना हो सकती है—तत्पुरुष और कर्मधारय। यदि 'धर्म' शब्द से सप्तम्यन्त पद ग्रहण किया जाय तो 'धर्मे प्रदेशः' यह वाक्य सप्तमी तत्पुरुष का प्रारंभक बन जाता है। जैसे—'वने हस्तीति वनहस्ती' इस पद में भेद-वृत्ति है। अर्थात्—'वन में' यह पदार्थ भिन्न है और 'हस्ती' यह पदार्थ भिन्न। जैसे—'वनहस्ती' पद में भेद स्पष्टतया मालूम होता है वैसे ही 'धर्म-प्रदेश' पद से भी यही अर्थ सिद्ध होता है कि—'धर्म' में प्रदेश है। यहाँ धर्म 'आधार' है और प्रदेश 'आधेय'। आधार और आधेय से

'कुण्डे वदराणि' भेद के ममान अनुभव-सिद्ध है। यदि यह कहो कि—अभेद मे भी मप्तमी देखी जाती है। जैसे—'घटे रूप, कण्ठे काल, धर्मे प्रदेश'—घट मे 'रूप,' कण्ठ मे 'कालापन' एव धम मे 'प्रदेश'। तव तो यहाँ भेद में सप्तमी है या अभेद म? यह दोपापत्ति उपस्थित हो जाएगी।

यदि कहो कि—धर्म-प्रदेश में 'कर्म धारय' समास है, तो यह ठीक न होगा। क्योकि कर्मधारय उसे कहते है, जो ममानाधिकरण हो। जैसे—नीलच तद् उत्पलम्—'नीलोत्पलम्' यहाँ विशेष्य विशेषण का अधिकरण ममाम है। अस्तु 'धमश्चासौ प्रदेशश्च धम-प्रदेश'। यहाँ 'धर्म' और 'प्रदेश'—दोनो प्रथमा है, तो इनमें कौन-सा पद विशेष्य है और कौन-सा विशेषण? अत यह 'कर्मधारय समास' भी नहीं हो सकता। इसलिए इसे 'धर्म-प्रदेश' न कहो, क्योकि ऐसा कहना दोपपूर्ण है।

'धमश्च सप्रदेशश्च-इति धर्म-सप्रदेश'। इन दो पदो में ममानाधिकरण हो जाने से 'कर्म-धारय' समास वना। इस प्रकार सप्तमी आशका के अभाव मे 'तत्पुरुष समास' की निवृत्ति हुई।

प्रश्न—'यह प्रदेश समानाधिकरण होने से सकल अर्थात्—अखण्ड धर्मास्तिकाय से अव्यतिरिक्त—अभिन्न है, या एक देश-वृत्ति है? जैसे कि जीवास्तिकाय का एक देश-वृत्ति जीव-प्रदेश।

उत्तर—इसके समाधान मे समभिरूढ कहता है कि 'से पएसे धम्मे'—सप्रदेशो धर्म. अर्थात्—अखण्ड धर्मास्ति-

काय सप्रदेश कहलाता है एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं कहते हैं।

(७) एवंभूत-नय—यह नय समभिरूढ-नय को इंगित करते हुए कहता है कि—सप्रदेश धर्म अर्थात्—धर्मास्तिकाय सप्रदेश है यह कथन भी युक्ति-युक्त नहीं है। यदि तुम धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हो तो तुम्हें यह भी मानना चाहिए कि ये सभी देश प्रदेश की कल्पना से रहित है कृत्स्न और परिपूर्ण है। एक द्वाम से निरवशेष निरवयव तथा एक है। अत देश प्रदेश मेरे सिद्धान्त म तो अवस्तु ही है।

इसके साथ-साथ एवभूत-नय समभिरूढ-नय से यह भी पूछता है कि—प्रदेश और प्रदेशी म भेद है या अभेद ? यदि पहला पक्ष स्वीकार करोगे तो भेद की उपलब्धि नहीं होती। यदि अभेद कहोगे तो धर्म प्रदेश —इन दोनो शब्दों का एक अर्थ होने से इन शब्दो को पर्यायता ही प्राप्त हुई। और दो पर्याय वाचक शब्दो का एक साथ उच्चारण नहीं हो सकता केवल एक शब्द का ही उच्चारण हो सकता है दूसरे की व्यर्थता तो स्वय सिद्ध है। अत देश-प्रदेश रहित वस्तु को ही 'धम अधर्म आकाश पुद्गल तथा जीव' कहते है।

२—प्रस्थक दृष्टान्त

'प्रस्थक'—धान्य मापने के एक भाजन विशेष को कहते हैं जो काष्ठमय होता है।

'कुण्डे बदराणि' भेद के समान अनुभव-सिद्ध है। यदि यह कहो कि—अभेद में भी सप्तमी देखी जाती है। जैसे—'घटे रूप, काष्ठे कान्त, धर्मे प्रदेश'—घट मे 'रूप,' काष्ठ में 'काला-पन' एव धर्म मे 'प्रदेश'। तब तो यहाँ भेद में सप्तमी है या अभेद मे ? यह दोषापत्ति उपस्थित हो जाएगी।

यदि कहो कि—धर्म-प्रदेश मे 'कर्म धारय' समास है, तो यह ठीक न होगा। क्योकि कर्मधारय उसे कहते है, जो समानाधिकरण हो। जैसे—नीलश्च तद् उत्पलम्—'नीलोत्पलम्' यहाँ विशेष्य विशेषण का अधिकरण समास है। अन्तु धर्मश्चासौ प्रदेशश्च धर्म-प्रदेश'। यहाँ 'धर्म' और 'प्रदेश'—दोनो प्रथमा है, तो इनमे कौन-सा पद विशेष्य है और कौन-सा विशेषण ? अत यह 'कर्मधारय समास' भी नहीं हो सकता। इसलिए इस 'धर्म-प्रदेश' न कहो, क्योकि ऐसा कहना दोषपूर्ण है।

'धर्मश्च सप्रदेशश्च-इति धर्म-सप्रदेश'। इन दो पदो में समानाधिकरण हो जाने से 'कर्म धारय' समास बना। इस प्रकार सप्तमी आशका के अभाव से 'तत्पुरुष समास' की निवृत्ति हुई।

प्रश्न—'यह प्रदेश समानाधिकरण होने से सकल अर्थात्—अखण्ड धर्मास्तिकाय से अव्यतिरिक्त—अभिन्न है, या एक देश-वृत्ति है ? जैसे कि जीवास्तिकाय का एक देश-वृत्ति जीव-प्रदेश।

उत्तर—इसके समाधान में समभिरूढ कहता है कि 'से पएसे धम्मे'—सप्रदेशो धर्म. अर्थात्—अखण्ड धर्मास्ति-

हुआ स्वाध्याय दोनों ही 'प्रस्थक' कहलाते हैं।

अग्रिम तीन शब्द-नयों की यह संयुक्त मान्यता है—प्रस्थक के स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति 'प्रस्थक' कहलाता है। और जिसका उपयोग 'प्रस्थक' में लगा हुआ है वह व्यक्ति उतने समय तक 'प्रस्थक' कहलाता है क्योंकि उपयोग ही जीव का असाधारण लक्षण है। ये तीन नय तो केवल भाव-निक्षेप ही मानते हैं। अतः इन्हें 'भाव-प्रधान नय' भी कहते हैं। भाव-प्रधान होने से 'भाव प्रस्थक' को ही चाहते हैं। भाव-प्रस्थक उपयोग रूप ही होता है अर्थात्—जिस विषय में उपयोग परिणत हो रहा है उससे भिन्न जीव का कोई अस्तित्व नहीं है। जब उपयोग भाव प्रस्थक में लगा हुआ होगा तभी कर्त्ता 'प्रस्थक' बना सकता है अन्यथा नहीं।

उनका यह भी कहना है कि—'सर्वं वस्तु स्वात्मन्येव वर्तते' अर्थात्—समस्त पदार्थ आत्मा में ही हैं। जिसका जिस समय और जिस वस्तु में उपयोग लगा हुआ है वह उस समय उसी वस्तु के रूप में माना जाता है क्योंकि अन्य वस्तु का आधार अन्य वस्तु नहीं हो सकता। साथ ही प्रस्थक निश्चयात्मक ज्ञान है और निश्चय ज्ञान रूप होता है अतः वह ज्ञान जड़-रूप काष्ठ के भाजन में कैसे अनुभूत हो सकता है? क्योंकि 'चेतन' और 'अचेतन' इन दोनों का अधिकरण समान नहीं हो सकता। अतः प्रस्थक में उपयुक्त आत्मा भी 'प्रस्थक' ही कहलाता है। इसी प्रकार आगम में उपयुक्त आत्मा भी 'आगम' कहलाता है और चारित्र में उपयुक्त—चारित्रात्मा ज्ञान में उपयुक्त—ज्ञानात्मा

एक बढ़ई कुल्हाड़ी लेकर अटवी की ओर जा रहा था। उसे देखकर किसी ने पूछा कि—श्रीमान् जी, कहां जा रहे हैं ?

उसने उत्तर दिया—मैं प्रस्थक लेने जा रहा हूँ।

काष्ठ छेदते समय भी किसी ने उससे पूछा—क्या छेद रहे हो ?

बढ़ई ने उत्तर दिया—मैं प्रस्थक छेद रहा हूँ।

उसके बाद प्रश्न-कर्त्ता ने पूछा—यह क्या बना रहे हो ?

बढ़ई उत्तर देता है—मैं प्रस्थक बना रहा हूँ।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर की दृष्टि से बढ़ई ने पहला उत्तर अविशुद्ध नैगम के अनुसार दिया और अन्तिम उत्तर 'विशुद्ध नैगम' से दिया है।

इस सम्बन्ध में संग्रह-नय यह मानता है कि—जब प्रस्थक को धान्य की राशि पर धान्य मापने के लिए रखा जाए, तभी उसे प्रस्थक कहना चाहिए। परन्तु व्यवहार-नय यह मानता है कि—जब वह प्रस्थक कहीं घर में रखा हो या अन्यत्र रखा हो अर्थात्—उससे काम नहीं लिया जा रहा हो तब भी लोक-व्यवहार में उसे प्रस्थक' ही कहेंगे।

अन्त में ऋजुसूत्र-नय बोलता है कि—प्रस्थक को तो प्रस्थक कहते ही हैं किन्तु जो धान्य प्रस्थक से मापा गया है, उसे भी प्रस्थक कहते हैं। जैसे पसेरी को तो 'पसेरी' कहते ही हैं, किन्तु उस पसेरी से तुले हुए धान्य को भी 'पसेरी' कह सकते हैं, क्योंकि तुलाई के लिए वह भी एक माप है। इसी प्रकार विवक्षित भाजन और उससे मापा

हुआ बालक दोनों ही प्रस्थक कहलाते हैं।

अग्रिम तीन शब्द-नयों की यह संयुक्त मान्यता है—प्रस्थक के स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति 'प्रस्थक' कहलाता है। और जिसका उपयोग 'प्रस्थक' में लगा हुआ है वह व्यक्ति उतने समय तक 'प्रस्थक' कहलाता है क्योंकि उपयोग ही जीव का असाधारण लक्षण है। ये तीन नय तो केवल भाव-निक्षेप ही मानते हैं। अतः इन्हें भाव प्रधान नय' भी कहते हैं। भाव-प्रधान होने से भाव प्रस्थक' को ही चाहते हैं। भाव-प्रस्थक उपयोग रूप ही होता है अर्थात्—जिस विषय में उपयोग परिणत हो रहा है उससे भिन्न जीव का कोई अस्तित्व नहीं है। जब उपयोग भाव प्रस्थक में लगा हुआ होगा तभी कर्ता प्रस्थक' बना सकता है अन्यथा नहीं।

उनका यह भी कहना है कि—'सब वस्तु स्वात्मन्येव वर्तते' अर्थात्—समस्त पदार्थ आत्मा में ही हैं। जिसका जिस समय और जिस वस्तु में उपयोग लगा हुआ है वह उस समय उसी वस्तु के रूप में माना जाता है क्योंकि अन्य वस्तु का आधार अन्य वस्तु नहीं हो सकता। साथ ही प्रस्थक निश्चयात्मक ज्ञान है और निश्चय ज्ञान रूप होता है अतः वह ज्ञान जड़-रूप काष्ठ के भाजन में कैसे अनुसृत हो सकता है? क्योंकि 'चेतन' और 'अचेतन' इन दोनों का अधिकरण समान नहीं हो सकता। अतः प्रस्थक में उपयुक्त आत्मा भी 'प्रस्थक' ही कहलाता है। इसी प्रकार आगम में उपयुक्त आत्मा भी 'आगम' कहलाता है और चारित्र में उपयुक्त—चारित्रात्मा ज्ञान में [illegible]

और दर्शन में उपयुक्त—दर्शनात्मा।

३—वसति-दृष्टान्त

नैगम नय के तीन भेद हैं (क) अविशुद्ध नैगम, (ख) विशुद्धाविशुद्ध नैगम, और (ग) विशुद्ध नैगम। इन तीनों को स्पष्टतया समझने के लिए आगम में वसति का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे—

किसी व्यक्ति ने किसी आगन्तुक मनुष्य से पूछा—आप कहाँ रहते हैं?

आगन्तुक ने उत्तर दिया—श्रीमान् 'मैं लोक में रहता हूँ,

प्रश्न—लोक तो वस्तुतः तीन ही हैं—ऊर्ध्व, पाताल तथा तिर्यक्। क्या, आप तीनों में रहते हैं?

उत्तर—मैं तिर्यक् लोक में रहता हूँ।

प्रश्न—तिरछा लोक तो जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक असंख्यात द्वीप समुद्र रूप है। क्या, आप सब में रहते हैं?

उत्तर—मैं जम्बू-द्वीप में रहता हूँ।

प्रश्न—जम्बू-द्वीप में तो दस क्षेत्र हैं, जैसे भरत, ऐरावत हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यक्वर्ष, देवकुरु, उत्तरकुरु, पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह। तो क्या, आप इन दसों क्षेत्रों में रहते हैं?

उत्तर—मैं भरत-क्षेत्र में रहता हूँ,

प्रश्न—भरत-क्षेत्र भी तो दो विभागों में विभक्त है, जैसे कि—दक्षिणार्द्ध, और उत्तरार्द्ध। तो क्या, आप दोनों

में जो नैगमोक्त है, वह मेरे सम्मत है। जैसे—मकान मालिक जिस कमरे मे रहता हो, व्यवहार से यही कहना पडता है कि—वह अमुक नम्बर वाले कमरे में रहता है। चाहे वह कार्यवश ग्रामादि मे ही गया हुआ हो, फिर भी पूछने वाले को यही उत्तर दिया जाता है—इस कमरे मे रहता है। पोस्टमैन भी कार्ड, लिफाफा आदि किवाडो के छिद्र से अन्दर डाल देता है, और बाहर से मिलने वाले भी वही पहुँचते हैं। अथवा—

शय्या मे जितने स्थान को शरीर रोकता है, कोई भी व्यक्ति वस्तुत उतने ही स्थान मे रह सकता है। शय्या का शेष स्थान खाली ही पडा रहता है।

इस सम्बन्ध मे ऋजुसूत्र-नय की यह मान्यता है कि—आत्मा जिन आकाश प्रदेशो का अवगाहन कर रहा है, उन्ही प्रदेशो मे वह रह रहा है।

शब्द, समभिरूढ, और एवभूत—इन तीनो को 'शब्द-नय कहते है। इन तीनो का मन्तव्य है कि—समस्त पदार्थ आत्म-भाव मे अवस्थित हैं, और आत्मा अपने मे अवस्थित है, किसी अन्य द्रव्य मे नही।

पञ्च सवर

अत्यन्त-निशित-धार,
दुरासद जिन-वरस्य नय-चक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाण ,
मूर्धान झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥

— आचार्य अमृतचन्द्र

जिन भगवान् के नय-चक्र को समझना सरल नहीं है क्योंकि वह अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला है। जो अज्ञ-जन बिना समझे बूझे ही इसका धारण करने का दुस्साहस करेगा, वह अपना हित साधन में सर्वथा असफल रहेगा।"

अहिंसा

(१) नैगम-नय

नैगम-नय की दृष्टि से अहिंसा के निम्नलिखित सात प्रकार हैं—

(क) मोह जन्य अहिंसा—सजातीय को न मारना, और आपत्ति काल में उसकी रक्षा करना।

(ख) लाभ जन्य अहिंसा—लाभ के वशीभूत होकर किसी को न मारना या किसी की रक्षा करना।

(ग) काम जन्य अहिंसा—कामना के वशीभूत होकर किसी को न मारना या उसकी रक्षा करना।

(घ) भीति जन्य अहिंसा—राज-दण्ड के भय से किसी को न मारना या किसी की रक्षा करना।

(ङ) क्षमा जन्य अहिंसा—क्षमा मांगने के पश्चात् अपराधी को न मारना या उसकी रक्षा करना।

(च) शरणागत जन्य अहिंसा—शरण में आए हुए की रक्षा करना या शरणागत को न मारना।

अत्यन्त-निशित-धारं,
दुरासदं जिन-वरस्य नय-चक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं,
मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥

— आचार्य अमृतचन्द्र

"जिन भगवान् के नय-चक्र का समझना सरल नहीं है, क्योंकि वह अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला है। जो अज्ञ-जन बिना समझे-बूझे ही इसको धारण करने का दुस्साहस करेगा, वह अपना हित साधन में सर्वथा असफल रहेगा।"

अहिंसा

(१) नैगम-नय

नैगम-नय की दृष्टि से अहिंसा के निम्नलिखित सात प्रकार हैं—

(क) मोह जन्य अहिंसा—सजातीय को न मारना, और आपत्ति काल में उसकी रक्षा करना।

(ख) लोभ जन्य अहिंसा—लोभ के वशीभूत होकर किसी को न मारना या किसी की रक्षा करना।

(ग) काम जन्य अहिंसा—वासना के वशीभूत होकर किसी को न मारना या उसकी रक्षा करना।

(घ) भीति-जन्य अहिंसा—राज-दण्ड के भय से किसी को न मारना या किसी की रक्षा करना।

(ङ) क्षमा-जन्य अहिंसा—क्षमा मांगने के पश्चात् अपराधी को न मारना या उसकी रक्षा करना।

(च) शरणागत-जन्य अहिंसा—शरण में आए हुए की रक्षा करना या शरणागत को न मारना।

(छ) दौर्बल्य-जन्य अहिंसा—प्रत्येक अवस्था मे अपने आप को दुर्बल जानकर सशक्त निरपराधी, या अपराधी को न मारना ।

(२) सग्रह-नय

सग्रह-नय की दृष्टि मे अहिंसा के निम्नलिखित दो भाव है—

(क) मैत्री भाव—त्रस जीवो की रक्षा के निमित्त सहानुभूति एव समवेदन प्रकट करना, और आततायियो तथा शिकारियो से किसी सतप्त प्राणी की रक्षा करना ।

(ख) अनुकम्पा भाव—अनाथालय, वृद्धालय, वनिता आश्रम, चिकित्सालय खोलना, तथा—गौशाला, धर्मशाला, पिजरापोल, आदि जन-हिताय एव पशु-पक्षी हिताय सस्थाओ का सुव्यवस्थित सचालन करना । यथाशक्य अपना सुख छोड कर दूसरे दुखी प्राणियो के प्रति सहानुभूति प्रकट करना, तथा—अपना तन-मन-धन अनुकम्पा-भाव मे अर्पण करना ही सच्ची अहिंसा है । अहिंसा की यह सक्षिप्त परिभाषा 'सग्रह-नय' की दृष्टि से समझना चाहिए ।

(३) व्यवहार-नय

स्थूल प्राणातिपात का त्याग करना भी अहिंसा है, अर्थात्—चलने-फिरने वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पचेन्द्रिय, इन जीवो को निरपराध मान कर निश्चित सकल्प के द्वारा न मारना ही सच्ची अहिंसा है । इस अहिंसा

का साधक यदि गृहस्थ होता है तो वह गृहस्थावस्था में रहते हुए भी विश्व-मैत्री और विश्व-प्रेम को अपनाने का यथाशक्य प्रयास कर सकता है।

साथ ही उसकी यह मान्यता भी रहती है कि—किसी भी जीव को सताना दम्भ करना धोखा देना चुगली करना निन्दा करना गाली देना किसी का बुरा चाहना तथा किसी पर कलंक चढ़ाना आदि भी हिंसा है। दबे हुए कलह को उखाड़ना किसी पर अन्याय होते देखकर खुश होना अथवा शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना भी हिंसा है। क्रूरता से किसी का वचन-बद्ध करना या किसी को बुरी तरह बाँधना भी हिंसा है। क्रोधवश किसी को बुरी तरह पीटकर घायल करना या किसी भ ध का कोई अंग-उपाङ्ग काट डालना भी हिंसा है।

किसी मजदूर पर किसी पशु पर या किसी कुली पर अधिक भार लादना भी हिंसा है। किसी पर कर्जे का अधिक भार लादना भी हिंसा है। कन्या-पक्ष पर अधिक दहेज तथा बहु-संख्यक बर-यात्री से जाने आदि का अधिक भार लादना भी हिंसा है। अपने आश्रित मनुष्य पशु-पक्षी आदि जो भी हों उन्हें भूखे-प्यासे रखना दास-दासियों को समय पर खाने-पीने की सुविधा न देना और श्रमजीवी को समय पर न्यायोचित पारिश्रमिक न देना भी हिंसा है। शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना और आलस्य में पड़े रहना भी हिंसा है। बड़ों की विनय न करना और छोटों से प्रेम न करना भी हिंसा है। इन सभी से यथाशक्ति बचना ही

वाणी का वास्तविक संयम है जिसे वचन-गुप्ति भी कहते हैं। वस्तुतः निरवद्य वाणी ही अहिंसा से प्राण प्राप्त होती है।

१६ प्रकार के उद्गम दोष १६ प्रकार के उत्पादन दोष ? प्रकार के एषणा दोष तथा ५ प्रकार के माण्डल के दोष—इन ४७ दोषों से सर्वथा मुक्त होकर और दत्त भाग कर प्रमाद-मुक्त ध्यान में ही आहार करे। और वह आहार भी शरीर पुष्ट करने के लिए नहीं बल्कि संयम यात्रा के लिए, प्राणों की रक्षा के लिए धर्म चिन्तन के लिए सेवा कार्य के लिए, ईर्या-समिति शोधन के लिए तथा क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए ही आहार करना चाहिए।

पीठ फलक शय्या संथारा वस्त्र पात्र कम्बल प्रावरण रजोहरण चोलपट्टक मुख-वस्त्रिका आदि उपकरण संयम निर्वाह के लिए ही रखना चाहिए। और इन उपकरणों का भी मर्यादा से अधिक ग्रहण न करना चाहिए। इन उपकरणों में मूर्छा भाव न रखे उनकी प्रतिलेखना व प्रमार्जना यतना पूर्वक प्रतिदिन उभय समय करे अर्थात्—प्रत्येक उपकरण को यतना से ही ग्रहण करे यतना से ही रखे और यतना से ही वापिस करे तभी वास्तविक अहिंसा का ठीक रूप से पालन हो सकता है। इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की परिभाषा सूत्रकृतांग-सूत्र की अपेक्षा से है।

(५) शब्द नय

यह ठीक है कि अहिंसा का पूर्णतया पालन केवल विरक्त ही कर सकता है अन्य नहीं। और वह भी अप्रमत्त

अवस्था में ही सम्भव है, क्योंकि अप्रमत्त अवस्था ही वास्तविक अहिंसा है। इस सम्बन्ध में प्रश्न-व्याकरण सूत्र में अहिंसा के साठ नाम भगवान् ने प्रतिपादन किये हैं, जिनमें अप्रमत्त भी इसी का अपर नाम है। जहां-जहां प्रमत्तता है वहां बहुत से सूक्ष्म छिद्र रह जाते हैं। और जहां आस्रव है, वहां कर्म-बन्धन चालू रहता है। अतः अप्रमत्तता ही वास्तविक अहिंसा है।

(६) समभिरूढ-नय

अप्रमत्त गुण-स्थानों में तो मोहनीय कर्म का उदय भी रहता है। और जहां मोहनीय का उदय है, वहां अध्यवसाय विशुद्ध नहीं होते। अध्यवसाय की विशुद्धि के बिना अहिंसा का पालन विशुद्ध नहीं होता। अतः ऐसा कहना चाहिए कि सच्ची अहिंसा तो वीतराग अवस्था में ही है, और यथाख्यात चारित्र में है।

(७) एवंभूत-नय

वीतराग अवस्था में भी वचन-योग और काय-योग रहता है। और जहां योग है, वहां ईर्या-पथिक क्रिया अनिवार्य है। अतः ऐसा कहना चाहिए कि—सच्ची अहिंसा अयोगी केवली में है अशैली में है, और अक्रिय में है, क्योंकि वही अवस्था पूर्णतया अबन्धक है।

सत्य

(१) नैगम-नय

संसार भर में जितने भी मत-मतान्तर हैं उनमें यत् किंचित् सत्य अवश्य है। सत्य के बिना किसी भी मत का आविष्कार नहीं हो सकता फिर चाहे वह सत्य सिद्धान्त रूप में हो उपदेश रूप में हो या इतिहास रूप में ही क्यों न हो। सत्य बोलने के लिए सभी मत प्रवर्तकों ने लेखों के द्वारा और भाषणों के द्वारा आज्ञा प्रदान की है। अपने अनुयायी जनों के हितार्थ सत्य की शिक्षाएं दी जाती हैं और सत्यवादियों के लिए पारितोषिक भी दिये जाते हैं। सत्य का समर्थन सभी मतानुयायी करते हैं सभी मत-मतान्तरों के ग्रन्थों में सत्य की महिमा सत्य के बीज सत्य की स्तुति सत्य की शिक्षाएँ सत्य की आराधना सत्य की पूजा और सत्य का सहर्ष समर्थन आदि के लिए पुरजोर आज्ञा प्रदान की गई है।

धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीति के क्षेत्र में भी सत्य का स्थान बहुत ऊँचा है। सभी राज्याधिकारियों और कर्मचा

लिया को सत्य बोलने के लिए विशेष रूप से सतर्क किया जाता है। असत्यवादियों को दण्डित किया जाता है और सत्य बोलने वालों को पदक दिया जाता है।

व्यावसायिक क्षेत्र में भी सत्य का बहुत सम्मान किया जाता है। सत्य के द्वारा या सत्य की ओट में झूठ के द्वारा निस्संकोच व्यापार किया जाता है। खालिस झूठ पर रहकर कोई भी व्यापार नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपनी दुकान पर साइनबोर्ड लगाए, जिस पर लिखा हो—'मेरी दूकान पर झूठ बोलकर व्यापार किया जाता है', फिर देखना कितने ग्राहक आएँगे। जब सत्य की ओट में रहकर झूठ बोलते हैं, तो उस समय सत्य अपने प्रभाव से झूठ को भी मीठा बना देता है। परन्तु झूठ स्वयं तो विषैला होता है अतः विष में मीठा मिला देने से विष अमृत नहीं हो सकता। वस्तुतः माधुर्य अन्य वस्तु है, और विषत्व उससे भिन्न दूसरी वस्तु। निस्सदेह समन्वयवादी भी इसी नय का सहारा लेकर सर्व-धर्म-सम्मेलन का आयोजन करते हैं। इस नय के प्रवर्तक सर्वप्रिय और प्रतिष्ठित बन जाते हैं। उनका कहना यह होता है कि—सभी धर्मानुयायी मेरे हैं, और मैं सब का हूँ। मुझ मे और इन्हों में सत्यांश की दृष्टि से कोई भेद नहीं है।

(२) संग्रह नय

जो कोई व्यक्ति धन की इच्छा से, किसी को प्रसन्न करने की इच्छा से, मंत्र सिद्ध करने की इच्छा से, वरदान

की इच्छा से सर्वस्व नष्ट होने की आशंका से मारण तथा उच्चाटन के लिए, विद्या-सिद्धि के लिए हिंसाकारी मर्मकारी कलहकारी वैर-वर्द्धक सत्य बोलने से या अन्य किसी भी सांसारिक उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए जो भी सत्य बोला जाता है तो वह सत्य किसी को भी संसार से पार करने में बिलकुल असमर्थ है। उससे आत्मोन्नति और आत्म-विकास नहीं हो सकता। वास्तव में ऐसे सत्य का कोई महत्त्व नहीं है ऐसे सत्य की आराधना मिथ्या-दृष्टि भी करते हैं, फिर भी आगमकारों ने उसे परलोक का आराधक नहीं माना।

यद्यपि वह सत्य भी बोलता है तदपि वह वचन असत्य ही है क्योंकि मिथ्यात्व का अर्थ है—असत्यपन अर्थात्—जिसकी दृष्टि ही असत्य है उसकी भाषा में सच्चाई कहाँ से आए ? उसके मन और कर्म में भी सत्य कहाँ से आए ? क्योंकि जिसका रक्त अत्यन्त विकृत हो रहा हो उसका स्वास्थ्य कैसे ठीक हो सकता है। मिथ्यात्व का उदय होने पर सत्य भी मिथ्यात्व रूप में परिणत हो जाता है। जैसे घने अँधेरे में लाल पीली और सफेद रंग की वस्तु भी नजर नहीं आती वैसे ही मिथ्यात्व के उदय भाव में सत्य

अतः ऐसा कहना युक्ति-संगत होगा कि सम्यक् दृष्टित्व परमार्थ रूप से सत्य है और सम्यग्दृष्टि ही सम्यग्वादी हो सकता है मिथ्या-दृष्टि नहीं। यह कथन संग्रह-नय की दृष्टि से युक्ति-युक्त है।

(३) व्यवहार-नय

जिस व्यक्ति का जीवन राज-नीति और धर्म-नीति से मिश्रित हो, और जिसका गृहस्थ जीवन राज-नीति तथा धर्म-नीति की दृष्टि से आदर्शमय हो, अर्थात्—जो कन्या के लिए, पशु के लिए तथा भूमि के लिए झूठ नही बोलता, किसी की अमानत मे खयानत नही करता, झूठी गवाही नही देता, किसी पर झूठा आरोप नही चढाता, किसी की रहस्यपूर्ण वार्ता का भडाफोड नही करता, अपनी स्त्री की गुप्त-वार्ता प्रकाशित नही करता, झूठ बोलने का उपदेश नही देता, खोटा लेख नही लिखता, झूठे दस्तावेज नही बनाता, नशा नही करता, कुसगति मे नही रहता, खेल-तमाशे नही देखता, अश्लील बाते नही करता, गाली नही देता, गप्पे नही हाकता, विकथा नही करता, असभ्य एव कठोर वचन नही बोलता, निन्दा और चुगली नही करता, मौखर्य वचन भी नही बोलता अभक्ष्य सेवन नही करता, और जो पहले तोले फिर बोले, वितराग वाणी मे सदा अनुरक्त रहे, नियमित स्वाध्याय करे, भगवान् का स्मरण करे, विवेक की ज्योति को जागृत करे, निरतिचार प्रतिज्ञा पाले, वास्तव मे इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने वाला ही सत्यवादी कहलाता है। यह है व्यवहार-नय की दृष्टि से सत्य की संक्षिप्त परिभाषा।

(४) ऋजुसूत्र-नय

ऋजुसूत्र-नय की दृष्टि से सत्य के निम्नलिखित पाँच

प्रकार हैं—

(क)—जो व्यक्ति गुस्से का निमित्त होने पर भी गुस्सा नहीं करता उसी का जीवन सत्य कहलाता है। क्योंकि क्रोध के वश झूठ बोला जाता है चुगली खाई जाती है कठोर वचन बोला जाता है कलह हो जाता है। और परस्पर युद्ध छिड़ जाता है शान्ति और क्षमा का भग होता है तथा नियम एवं उपनियमों से भी दाग लग जाते हैं और प्रतिज्ञा भी भग हो जाती है।

(ख)— जो व्यक्ति लाभ का निमित्त होने पर भी लोभ नहीं करता वह सत्यवादी हो सकता है अर्थात् किसी स्थान विशेष के लिये झूठ बोला जा सकता है अन्न-पानी के लिए भी झूठ बोला जाता है। और पट्टा चौकी के लिए वस्त्र पात्र के लिए शिष्य आदि के लिए लाभ और सत्कार के लिए, प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए अथवा अन्य किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए भी झूठ बोला जा सकता है। अतः सत्यवादी को हर समय सतोषी बनना अनिवार्य है।

(ग)—जो व्यक्ति जितना निर्भीक होगा उतना ही वह सत्यवादी बन सकता है। क्योंकि भय से भी झूठ बोला जाता है भयभीत व्यक्ति ही भूतों मेपक हो जाता है वह स्वयं डरता है और दूसरों को भी डरता है। भय से तप संयम भक्ति और उपासना आदि सब कुछ छूट जाता है भयभीत व्यक्ति सत्पुरुषों का अनुसरण भी नहीं कर सकता। अतः सत्य की आराधना के लिए निर्भीक होना नितान्त आवश्यक है

(३) व्यवहार-नय

जिस व्यक्ति का जीवन राज-नीति और धर्म-नीति से मिश्रित हो, और जिसका गृहस्थ जीवन राज-नीति तथा धर्म-नीति की दृष्टि से आदर्शमय हो, अर्थात्—जो कन्या के लिए, पशु के लिए तथा भूमि के लिए झूठ नही बोलता, किसी की अमानत मे खयानत नही करता, झूठी गवाही नही देता, किसी पर झूठा आरोप नही चढाता, किसी की रहस्यपूर्ण वार्त्ता का भडाफोड नही करता, अपनी स्त्री की गुप्त-वार्ता प्रकाशित नही करता, झूठ बोलने का उपदेश नही देता, खोटा लेख नही लिखता, झूठे दस्तावेज नही बनाता, नशा नही करता, कुसगति मे नही रहता, खेल-तमाशे नही देखता, अश्लील बाते नही करता, गाली नही देता, गप्पे नही हाकता, विकथा नही करता, असभ्य एव कठोर वचन नही बोलता, निन्दा और चुगली नही करता, मौखर्य वचन भी नही बोलता अभक्ष्य सेवन नही करता, और जो पहले तोले फिर बोले, वितराग वाणी मे सदा अनुरक्त रहे, नियमित स्वाध्याय करे, भगवान् का स्मरण करे, विवेक की ज्योति को जागृत करे, निरतिचार प्रतिज्ञा पाले, वास्तव मे इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने वाला ही सत्यवादी कहलाता है। यह है व्यवहार-नय की दृष्टि से सत्य की सक्षिप्त परिभाषा।

(४) ऋजुसूत्र-नय

ऋजुसूत्र-नय की द सेष्टि सत्य के निम्नलिखित पाँच

व्याक्ति सत्य की परिभाषा ऊपर कथित तरीकों से करता है तो वह ऋजुसूत्र-नय की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

(५) शब्द नय

इस नय के मतानुसार आगम में चार प्रकार का सत्य बतलाया है जैसे—(क) नाम-सत्य (ख) स्थापना-सत्य (ग) द्रव्य-सत्य और (घ) भाव-सत्य।

इसमें शब्द-नय को केवल 'भाव-सत्य-ही' अभीष्ट है। नाम-सत्य स्थापना-सत्य द्रव्य-सत्य ये तीन प्रकार के सत्य सर्वथा अस्वीकृत हैं।

भाव-सत्य की मान्यता भी केवल अप्रमत्त तथा कल्पातीत अवस्था में ही है। प्रमत्त अवस्था में तो वह भाव-सत्य भी दोष-पूर्ण है सातिचार है और अशुद्ध है।

अप्रमत्त अवस्था में भी भाव-सत्य वर्द्धमान परिणाम और अवस्थित परिणाम में पाया जाता है। हीयमान परिणाम में वही भाव-सत्य निर्दोष नहीं है। सत्य के विषय में ऐसा निरूपण शब्द-नय की दृष्टि से समझना चाहिए।

(६) समभिरूढ़-नय

जहाँ तक साम्परायिक क्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक परिणाम चाहे वर्द्धमान हो और चाहे अवस्थित हो भाव सत्य सदोष है। क्योंकि जहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय सूक्ष्म रूप से भी चालू है वहाँ तक सत्य पूर्ण विकसित एवं निर्दोष नहीं हो सकता। अतः ऐसा कहना चाहिए कि—जो भाव सत्य वीतरागता में पूर्णतः विकसित होता है और

क्योकि निर्भीक व्यक्ति ही व्याधि, रोग, जरा, मृत्यु आदि से भय नही करता ।

(घ)—जो व्यक्ति किसी की हँसी-मजाक नही करता, वह सत्यवादी वन सकता है। दूसरो की हँसी करने से अवहेलना और अपमान होता है, आपस में लडाई भी हो जाती है। यहाँ पर यह लोकोक्ति अक्षरश चारितार्थ हो जाती है 'रोग का मूल खाँसी, और लडाई का मूल हाँसी।" जव तक शब्द मे झूठ की पुट न दी जाए, तव तक मजाक की भूमिका नही वनती , अत हँसी-मजाक मे झूठ वोला ही जाता है। प्राय सत्यवादी के लिए हँसी-मखोल वाले मनोरजन का परित्याग करना आवश्यक है।

(ङ)–जो व्यक्ति, प्रत्येक विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर वोलता है, वह सत्यवादी वन सकता है। जव भी वोले तव अच्छी तरह सोच-समझ कर वोले, और साथ ही शीघ्रता, चपलता, कटुता आदि दोषो से मुक्त होकर वोले। "सत्यपूत शास्त्रपूतच वदेद् वाक्यम्," अर्थात्–जिससे सत्य का शील का, और विनय का हनन हो, वैसा वचन कभी न वोले। और जा हाथ, पाँव, नयन तथा मुख , इन कर्मेन्द्रियो को वश मे कर लेगा, वह सत्यवादी वन सकता है।

उपर्युक्त समस्त उपायो को जो अपना लेता है, अर्थात्—जिसमे सत्य को पुष्टि हो, उसमे प्रवृत्ति करना, और जिससे, सत्य की हानि हो, उससे निवृत्ति करना ही सत्यवादिता है। सत्य की यह परिभाषा ऋजुसूत्र-नय की है। यदि कोई

व्यक्ति सत्य की परिभाषा ऊपर कथित तरीकों से करता है तो वह ऋजुसूत्र-नय की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

(५) शब्द नय

इस नय के मतानुसार आगम में चार प्रकार का सत्य बतलाया है जैसे—(क) नाम-सत्य (ख) स्थापना-सत्य (ग) द्रव्य-सत्य और (घ) भाव-सत्य।

इनमें शब्द-नय को केवल 'भाव-सत्य'ही अभीष्ट है। नाम-सत्य स्थापना-सत्य द्रव्य-सत्य ये तीन प्रकार के सत्य सर्वथा अस्वीकृत हैं।

भाव-सत्य की मान्यता भी केवल अप्रमत्त तथा कल्पातीत अवस्था में ही है। प्रमत्त अवस्था में तो वह भाव-सत्य भी दोष पूर्ण है सातिचार है और अशुद्ध है।

अप्रमत्त अवस्था में भी भाव-सत्य वर्द्धमान परिणाम और अवस्थित परिणाम में पाया जाता है। हायमान परिणाम में वही भाव-सत्य निर्दोष नहीं है। सत्य के विषय में ऐसा निरूपण शब्द-नय की दृष्टि से समझना चाहिए।

(६) समभिरूढ-नय

जहाँ तक साम्परायिक क्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक परिणाम चाहे वर्द्धमान हो और चाहे अवस्थित हो भाव सत्य सदोष है। क्योंकि जहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय सूक्ष्म रूप से भी चालू है वहाँ तक सत्य पूर्ण विकसित एवं निर्दोष नहीं हो सकता। अतः ऐसा कहना चाहिए कि—जो भाव सत्य वीतरागता में पूर्णतः विकसित होता है और

जो मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियो से सर्वथा रहित भी हो, वही सत्य निर्दोष हो सकता है। इस प्रकार सत्य की सक्षिप्त परिभाषा समभिरूढ नय की दृष्टि के समझनी चाहिए।

(७) एवभूत-नय

वीतरागता तो ग्यारहवे और बारहवें गुण-स्थान मे भी होती है, परन्तु वहाँ पर भी एकान्त सत्य-योग नही होता। उन गुण स्थानो मे भी ये चार योग पाए जाते हैं—असत्य मन-योग, मिश्र मन-योग, असत्य वचन-योग, और मिश्र वचन योग। अत सत्य की परिभाषा इस प्रकार करनी चाहिए—

घातिया कर्मो के सर्वथा क्षीण हो जाने से ही सत्य का सर्वाङ्गीण विकास होता है। सर्वाङ्गीण विकास का अर्थ है–जिसके आगे और कोई दूसरा विकास न हो–"यत्सत्यान्नापर सत्यम्", अर्थात्—कुछ न्यून सत्य को भी एवभूत-नय सत्य नही मानता, केवल पूर्ण एव अखण्ड सत्य को ही सत्य मानता है। और वह अखण्ड सत्य तो केवल ज्ञान के साथ ही प्रकट होना है। मर्व प्रथम—"त सच्च खु भगव"— यह पाठ तभी चरितार्थ होता है, जब कि वह आत्मा अखण्ड सत्यमय हो जाता है। बस, वही अवस्था भगवत्पदवी की है, यह कथन एवभूत नय की दृष्टि से अभिप्रेत है।

अस्तेय

(१) नैगम नय

जिसका जीवन नैतिकता और व्यावहारिकता से ओत प्रोत हो जिसकी कीर्ति एवं प्रतिष्ठा विश्व भर में बहुत बढ़ी चढ़ी हो जो अनेक संस्थाओं का स्तम्भ एवं संरक्षक भी हो जो राष्ट्र-सेवा देश-सेवा समाज-सेवा ग्राम-सुधार तथा नगर-सुधार आदि का महान् उत्तरदायित्व भी अपने कन्धों पर लिए हो जो अपना तन मन और धन राष्ट्र सेवा में बलिदान करता हो जो वीर अपनी मातृ भूमि की स्वतन्त्रता सुरक्षा और समृद्धि के लिए निरन्तर कटिबद्ध हो और अपनी कमाई में से यथाशक्य धन-हिस्सा दान भी करता हो इत्यादि शुभ सदाचारों से जाना जाता है कि—वह अचौर्य व्रत का पालक है। फिर चाहे वह मिथ्या-दृष्टि भी क्यों न हो किन्तु नैगम-नय की दृष्टि से तो वह अचौर्यव्रत पालक ही है। क्योंकि जो मनुष्य तथा कथित गुणों से सम्पन्न है वह कभी भी चोरी नहीं करता। इसी लिए वह अचौर्य व्रत प्रतिपालक कहलाता है। फिर चाहे वह गृहस्थ ही

क्यो न हो, किन्तु अचौर्य के विपय मे इस प्रकार की परि-भाषा प्रस्तुत करना, यह नैगम-नय का दृष्टिकोण है।

(२) सग्रह-नय

जो व्यक्ति राज-दण्ड के भय से, जाति-विरादरी के भय से, किसी वलवान् आदमी के द्वारा प्राणो की हानि के भय से, अथवा अपने परिवार की वेइज्जती के भय से चोरी नही करता, और पराई वस्तु का हरण भी नही करता, उसे अचौर्य-व्रत प्रतिपालक नही कहा जा सकता है। फिर चाहे वह महात्मा या सन्यासी ही क्यो न हो, जव तक उसके मन और मस्तिष्क मे मिथ्यात्त्व प्रकृति का प्रभाव है, तव तक वह अचौर्य-व्रत का प्रतिपालक नही हो सकता। इस व्रत की आराधना केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, अर्थात्—जिसकी दृष्टि सम्यक् हो, सत्य हो, और जो चोरी को पाप समझ कर स्वय छोड देता है। और इस कार्य में किसी प्रकार के भय से, या प्रलोभन से प्रभावित नहीं होता, वही अचौर्य-व्रत का धारक हो सकता है।

परन्तु जिसकी दृष्टि केवल वाह्य जगत मे उलझी हुई हो, वह चाहे कितना ही पडित हो और कितना ही ज्ञानी भी क्यो न हो—वह मिथ्या-दृष्टि कहलाता है। वस्तुत मिथ्यात्त्व अविवेकता एव अविद्या का 'अपर नाम' है। अवि-वेकिता मे आत्मा के विशिष्ट गुण प्रकट नही हो सकते क्योकि अचौय आत्मा का विशिष्ट गुण है और विशिष्ट गुण ही आत्मा की उन्नति तथा सर्वतोमुखी विकास मे परम सहायक

हो सकता है। आत्मा के जो सामान्य गुण हैं उनका मिथ्यात्व के उदय में भी ह्रास और विकास होता ही रहता है। यह अनादि नियम है। अत पर वस्तु के हरण को पाप समझ कर परित्याग करना ही अचौर्य है। अचौर्य के विषय में इस प्रकार की व्याख्या संग्रह-नय की दृष्टि से समझनी चाहिए।

(३) व्यवहार-नय

दृष्टि सम्यक होते हुए भी यदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है, तो पाप को पाप समझते हुए भी अचौर्य-व्रत का आराधक नहीं हो सकता क्योंकि दृष्टि ठीक होते हुए भी प्रकाश के बिना अन्धेरे में भटकना ही पड़ता है। अत दृष्टि ठीक होते हुए भी जिस प्रकार प्रकाश की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार दृष्टि सम्यक होते हुए भी यदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय होता है की तो वह कषाय चतुष्क स्वच्छ गगन-युक्त अमावस्या रात्रि के तुल्य समझना चाहिए। अत स्पष्ट शब्दों में यह कहना चाहिए कि—अरिहंत भगवान् ने गृहस्थों के लिए जिस मोटी चोरी का त्याग बतलाया है उसका त्याग कम से कम दो करण और तीन योग से होना चाहिए, अर्थात्—ऐसी मोटी चोरी न तो स्वय अपने ही मन वचन और काय से करे, और न दूसरों के मन वचन और काय से कराए जैसे—किसी के घर में या दुकान में सेन्ध न लगाना किसी की गाँठ न कतरना किसी को धूर्तता से न ठगना

मार्ग मे आते-जाते किसी मुसाफिर को न लूटना, पडी हुई वस्तु न उठाना, चुराई हुई वस्तु न लेना, चोर आदि को सुविधा पूर्ण सहयोग न देना, और जो राज्य-विधान प्रजा के लिए हितकर है उसका भंग न करना, जैसे—चुंगी-कर न देना, इनकम टैक्स तथा बिक्री टैक्स न देना, ब्लैक मार्कीट करना, रिश्वत खाना, जूआ खेलना, बिना लाईसेन्स के हथियार रखना, सिगरेट-बीडी पीना, शराब पीना, पर-स्त्री गमन, आदि दुर्व्यसनो मे लिप्त रहना। राज्य-विधान को भंग करना भी एक प्रकार की चोरी है। अत राज्य विरोधी आचरण न करना, न्यूनाधिक न तोलना और न न्यूनाधिक मापना ही चाहिए। असली वस्तु मे नकली वस्तु मिलाकर लोगो की आंखो मे धूल डालना भी चोरी है, अत यह वर्जित होना चाहिए। किसी पर अकारण आक्रमण भी न करना चाहिए। जिस प्रान्त मे जो पुस्तके जप्त हो चुकी हैं, उसी प्रान्त मे उन पुस्तकों को रखना और उन्हे पढना भी चोरी है। क्योकि वे किताब छिपाकर ही रखी जाती है और छिपकर ही पढी जाती है, मन मे सदैव खटका ही बना रहता है। गाय, भैंस, बकरी आदि का स्वार्थ वश अधिक दूध दोहना भी चोरी है, क्योकि स्वार्थपरता के कारण दोहन किया अधिक दूध पशु के बच्चे का ही न्यायोचित भाग है। अत इस प्रकार की स्वार्थ पूर्ति न केवल चोरी ही है, बल्कि पशु के बच्चे को भूखा मारने की दुस्साहसिक अनैतिकता भी है। और यह अनैतिकता अहिंसावादियो के लिए, गौ-रक्षको के लिए तथा जीव-रक्षा-व्रत पालको के

के लिए एक प्रकार की चारित्र सम्बन्धी शिथिलता है। भाग्यदाता की सम्पत्ति का हरण करना भी चोरी है।

सत्संग में जाने से और जिन-वाणी न सुनने से जी चुराना भी चोरी है। अवकाश होते हुए भी सामायिक का नित्य-नियम न करना भी चोरी है। किसी स्कूल में कौंसिल में मीटिंग में कार्यालय में अथवा व्याख्यान में विलम्ब से पहुँचना और समय समाप्त होने से पहले उठकर चले जाना भी चोरी है। धर्मार्थ द्रव्य को अपने ही किसी काम में व्यय करना भी चोरी है। बिरादरी के हितार्थ बनाए गए नियमों को तोड़ना भी चोरी है। खोटा सिक्का चाल-चाल मे डालना भी चोरी है। किसी निःसन्तान रिश्तेदार की सम्पत्ति को हस्तगत करने की चेष्टा भी चोरी है। परिश्रम थोड़ा करना और पारिश्रमिक अधिक लेना भी चोरी है। श्रम जीवी से श्रम तो अधिक लेना और पारिश्रमिक बहुत कम देना भी चोरी है।

इस प्रकार की मोटी चोरियों का परि त्याग और सूक्ष्म चोरियों का विवेक रखने से ही अचौर्य व्रत की सच्ची आरा धना हो सकती है। इस व्रत के आराधक पंचम गुण-स्थान वाले देश-व्रती श्रमणोपासक होते हैं अर्थात्—जिनका जीवन गृहस्थ अवस्था में राज-नीति और धर्म-नीति की दृष्टि से आदर्शमय हो उसे जैन-परिभाषा में श्रमणोपासक कहते हैं। जहाँ तक व्यवहार-नय का विषय है वहाँ तक तो गृहस्थ अचौर्य-व्रत की आराधना ही करता है। वस्तुतः व्यवहार-नय राज-नीति और धर्म-नीति दोनों से मिश्रित है।

अस्तु, यह नय देश-व्रत का ही अनुसरण करता है।

ऋजुसूत्र-नय

विना दी हुई जो भी वस्तु है या जिस वस्तु को ग्रहण करने की आज्ञा नही ली गई, उसे ग्रहण करना भी चोरी है। उसे तीन करण और तीन योग से ग्रहण न करना ही अचौय महाव्रत है। इस नय की पूर्ण दृष्टि छठे गुण-स्थान पर पडती है, अर्थात्--छठे गुण-स्थान मे जितने भी अचौर्य महाव्रत के आराधक हैं, वे सब इसी नय की परिधि मे हैं।

इस नय का मुख्य विपय अचौर्य महाव्रत है, अर्थात्–साधक चाहे किसी ग्राम मे हो, नगर मे हो, या अटवी मे हो, और कोई वस्तु थोडा हो या वहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, सजीव हो या निर्जीव, विना दी हुई कोई भी और कैसी भी वस्तु क्यो न हो, उसे न तो स्वय ही ग्रहण करना, न दूसरे से ग्रहण करवाना, और न ग्रहण करते हुए की अनुमोदना (समथन) मन-वचन-काय से करना, इस प्रतिज्ञा को जीवन पयन्त ग्रहण करना और तदनुरूप उसका पालन करना ही अचौय महाव्रत पालन को सार्थकता है।

जिस वस्तु का कोई स्वामी नही है अथवा कोई भूल गया हो, ऐसी वस्तु किसी भी कारण से चारित्रवान् ग्रहण न करे। कंकड और कनक (स्वर्ण) को एक-सा जानकर निष्परिग्रही वने। दाँत शोधन मात्र तिनके को भी विना आज्ञा लिए न उठाए। अचौर्य महाव्रती साधक के लिए अरिहन्त भगवान् ने प्रतिपादन किया है कि—'सयमी साधु सर्वकाल मे अप्रतीतकारी घर मे प्रवेश न करे, अप्रतीतकारी

आहार-पानी ग्रहण न करे एवं अप्रतीतकारी पाट पाटला मकान घास-फूस वस्त्र पात्र कम्बल रजोहरण चोल-पट्टा मुखवस्त्रिका अथवा अन्य किसी प्रकार की उपलब्धि जिसके लेने से लोक में निन्दा हो यदि ऐसी वस्तु कोई देने लगे तो वह वस्तु भी कदापि नहीं लेनी चाहिए। भुक्त करते हुए को अन्तराय न डाले और दान देते हुए को न हटाए। यदि कभी किसी वस्तु का बँटवारा करना पड़े तो निष्पक्ष एवं निस्वार्थ बँटवारा करे। आवश्यकता से अधिक कोई भी वस्तु न रखे परिमाण से अधिक भोजन न करे जब सब लोग आराम कर रहे हों तब जोर-जोर से न पढ़े और न जोर-जोर से बोले भी। जिस दरवाजे पर 'प्रवेश निषेध' का साइनबोर्ड लगा हो वहाँ बिना आज्ञा लिए प्रवेश न करे। दूसरों के किये हुए श्रेष्ठ कार्य को कभी न छिपाए।

द्रव्य क्षेत्र और काल के अनुकूल होने पर भी तप न करना चोरी है। एक वस्तु मे दो व्यक्तियों का साझा है और उनमे से एक नहीं देना चाहता तो वह वस्तु लेना भी चोरी है। किसी की वस्तु देखकर या सुनकर उसे प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करना भी चोरी है। जिस वस्तु में सब का साझा है उसमे से कोई हिस्सेदार अगर अपने हिस्से से अधिक लेता है तो वह भी चोरी है। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी को बहकाकर अपना बनाना भी एक प्रकार की चोरी है।

किसी क्षेत्र मे या परिषद् मे व्याख्यान का समय नियत

किया गया है, उससे अधिक समय लेना भी चोरी है। आज्ञा लिए विना किसी वस्तु को परोक्ष रूप में देख लेना भी चोरी है। सयम के मार्ग मे उद्यम न करके आलस्य और प्रमाद प्रकट करना, बार-बार विषयो का सेवन करना, तप में अरुचि प्रकट करना, और स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करना भी चोरी है। दीक्षित साधु को सयम के पथ से भ्रष्ट करना भी चोरी है।

कृतघ्नता भी एक प्रकार की चोरी है। जादू-टोना और धागा-तावीज बनाना भी चोरी है। किसी खेल-तमाशे को या किसी काम-वर्द्धक वातावरण को छिपकर देखना भी चोरी है। किसी की कविता में या किसी के निबन्ध मे अपना नाम जोडना भी चोरी है। अपने पास आवश्यकता से अधिक उपकरण होते हुए दूसरे को अत्यन्त आवश्यकता होने पर न देना भी चोरी है। दान देते हुए को अन्तराय देना भी चोरी है। जितनी भूमि की आज्ञा ली है, उससे अधिक अपने काम मे लेना भी चोरी है। चतुर्विध श्री सघ की समृद्धि के लिए बनाए गए विधान को तोडना भी चोरी है। आचार्य, गुरु या रत्नाधिक की बिना आज्ञा से किसी पदार्थ को प्राप्त करना, और उसे बिना दिखाए सेवन कर लेना भी चोरी है। रसोईघर मे रसोईया प्राय क्यारियाँ बनाकर मर्यादा बनाता है, उस मर्यादा का उल्लघन करके अन्दर जाना भी चोरी है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की चोरियो से निवृत्ति प्राप्त कर लेना ही अचौर्य महाव्रत का परिपूर्ण पालन है।

(५) भाव-चोर

जो व्यक्ति दूसरे की यश प्रतिष्ठा आदर-सत्कार एवं मान-सम्मान को स्वयं प्राप्त करना चाहता है वह महाव्रती भी चोरी के दोष से अछूता नहीं है। जैसे कि चोरी पाँच प्रकार की होती है—

(क) तप चोर—तप कोई दूसरा करे और तपस्वी आप कहलावे—गुप्त रूप में खाना खाए और प्रकट रूप में तपस्वी कहलावे। कोई दर्शनार्थी किसी दुर्बल मुनि को देखकर भाव प्रवण शब्दों में ऐसा बोले—क्या मुनि की तरह दुष्कर करनी करने वाले आप ही है क्या ? और उत्तर देते हुए यदि ऐसा कहे—साधु तो सदव ही तपस्वी होते है। तपस्वी न होते हुए भी तपस्वी की प्रतिष्ठा लूटने से महामोहनीय कर्म बन्धता है। अतः जो 'तप चोर' होता है वह किल्बिषी देवता बनता है।

(ख) वय चोर—दो मुनि विचर रहे है। एक वय में युवक है किन्तु पर्याय में ज्येष्ठ और दूसरा मुनि वय में वृद्ध है किन्तु पर्याय में कनिष्ठ। दर्शनार्थी श्वेत केश देखकर यह पूछे कि—बड़े महाराज क्या आप ही है ? इसका उत्तर देते हुए कहे कि—साधु तो हमेशा बड़े ही होते है अर्थात्—बड़े साधु की प्रतिष्ठा आप स्वयं प्राप्त करे। इसे 'वय चोर' कहते है।

(ग) रूप चोर—एक जैसा रूप एक जैसा डीलडौल एक जैसा नाम एक जैसा वेष दो मुनियों का है। उनमें एक प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित है और दूसरा अप्रसिद्ध एवं अप्रतिष्ठित। एक प्रश्नकर्ता ने पूछा क्या आप वही है जिनकी कीर्ति विश्व

किया गया है, उसमे अधिक समय लेना भी चोरी है। आज्ञा लिए बिना किसी वस्तु को परोक्ष रूप मे देख लेना भी चोरी है। सयम के मार्ग मे उद्यम न करके आलस्य और प्रमाद प्रकट करना, बार-बार विषयो का सेवन करना, तप मे अरुचि प्रकट करना, और स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करना भी चोरी है। दीक्षित साधु को सयम के पथ से भ्रष्ट करना भी चोरी है।

कृतघ्नता भी एक प्रकार की चोरी है। जादू-टोना और धागा-तावीज बनाना भी चोरी है। किसी खेल-तमाशे को या किसी काम-वर्द्धक वातावरण को छिपकर देखना भी चोरी है। किसी की कविता मे या किसी के निबन्ध में अपना नाम जोडना भी चोरी है। अपने पास आवश्यकता से अधिक उपकरण होते हुए दूसरे को अत्यन्त आवश्यकता होने पर न देना भी चोरी है। दान देते हुए को अन्तराय देना भी चोरी है। जितनी भूमि की आज्ञा ली है, उससे अधिक अपने काम मे लेना भी चोरी है। चतुर्विध श्री सघ की समृद्धि के लिए बनाए गए विधान को तोडना भी चोरी है। आचार्य, गुरू या रत्नाधिक की बिना आज्ञा से किसी पदार्थ को प्राप्त करना, और उसे बिना दिखाए सेवन कर लेना भी चोरी है। रसोईघर मे रसोईया प्राय क्यारियाँ बनाकर मर्यादा बनाता है, उस मर्यादा का उल्लघन करके अन्दर जाना भी चोरी है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की चोरियो से निवृत्ति प्राप्त कर लेना ही अचौर्य महाव्रत का परिपूर्ण पालन है।

(६) समभिरूढ़-नय

प्रमत्त अवस्था में लगे हुए दोषों की आलोचना और निन्दना ग्रहण न करना भी एक प्रकार की चोरी है। और जब तक मोह एवं लोभ का उदय है तब तक अप्रमत्त अवस्था में भी अदत्तादान के दोष से अछूता नहीं रहा जा सकता अर्थात्—दसवें गुण-स्थान तक अदत्तादान (चोरी) का दोष लगता है। वीतरागता में अचौर्य दोष नहीं लगता। यह कथन समभिरूढ़-नय की अपेक्षा से समझना चाहिए।

(७) एवंभूत-नय

जहाँ तक कोई भी जीव छद्मस्थ और अल्पज्ञ है वहाँ तक चोरी के दोष से अछूता नहीं रहता। सर्वज्ञ होने पर ही अचौर्य महाव्रत पूर्ण विकसित होता है। घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय होने से ही गुणों का विकास होता है।

दोषों का मूल कारण मन ही है। तेरहवें गुण-स्थान में मन सक्रिय नहीं होता। चौर्य यह दोष घातिया कर्मजन्य है। अघातिया कर्मों से आत्मा में किसी प्रकार भी विकार नहीं होता। अतः जहाँ अचौर्य की परिभाषा उक्त शैली से की जाए वहाँ एवंभूत-नय की अपेक्षा से ही समझनी चाहिए।

भर मे फैल रही है ? ऐसा सुनकर मौन धारण करे या ऐसा कहे—साधु तो लब्ध-प्रतिष्ठ होते हैं। ऐसा गोलमोल जवाब देना कि जिससे पूछने वाले को ऐसा प्रतीत हो कि यह वही हैं जिनके दर्शन मै करना चाहता था। इसे 'रूप चोर' कहते हैं।

(घ) आचार-चोर—शुद्धाचारी न होते हुए भी अपने आपको शुद्धाचारी कहे, गुप्त रीति से अनाचार सेवन करना किन्तु जनता के समक्ष क्रिया-पात्र बनना और चौथे आरे के आचरण का प्रदर्शन करना। इसे 'आचार चोर' कहते हैं, अर्थात्—चारित्र विहीन होते हुए भी शुद्ध चारित्री की प्रतिष्ठा लूटना।

(ङ) भाव-चोर—चोरी से ज्ञान सीखना, मायाचारी से ज्ञान सीखना, जिन-जिन आगमधरो से सूत्रो का ज्ञान प्राप्त किया है, उनका नाम और उपकार छिपाना। किसी के पूछने पर यह उत्तर देना—'मैंने श्रुत-ज्ञान स्वयमेव प्राप्त किया है।' ऐमा उत्तर देने वाला 'भाव चोर' कहलाता है।

तीर्थङ्कर की आज्ञा भग करना और निषिद्ध क्रिया का आचरण करना भी चोरी है। कोई भी महाव्रती यदि उक्त क्रिया करता है, तो वह शब्द-नय की दृष्टि से चोर है। रोगी, ग्लान या महा तपस्वी के नाम से लाए हुए आहार को स्वयमेव सेवन कर लेना भी चोरी है। अत ऐसा कहना चाहिए कि—जो अप्रमत हैं, वस्तुत अचौर्य महाव्रत के प्रति-पालक वे ही हैं। प्रमत्त-दशा मे तो सूक्ष्म अदत्ता दान का दोष लगता ही रहता है।

ब्रह्मचर्य

(१) नैगम-नय

काम और राग की प्रेरणा से जो प्राणियों के संयोग से होने वाले वैषयिक सुख को मैथुन कहते हैं। मैथुन क्रीड़ा न करना इसे 'ब्रह्मचर्य' कहते है। जो व्यक्ति अबोध अवस्था में लज्जा अवस्था में एवं बाल्यवय में स्वास्थ्य रक्षा के लिए, बल वृद्धि के लिए, स्वर्ग प्राप्ति के लिए, परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए, विद्या प्राप्ति के लिए (ब्रह्मचर्येण विद्या विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्) तथा राज भय से समाज-भय से अपयश के भय से किसी लौकिक काम में व्यग्र-चित्त रहने से धन नष्ट होने के भय से समय और स्थान की प्रति कूलता से विवेक न होने से दवाइयों के द्वारा वीर्य रोकने से उपधातुता से कार्य की सफलता के उद्देश्य से परवशता से आयु, यौवन रूप एवं स्वर—इन सभी की रक्षा के लिए, रोग के भय से (भोगे रोग भयम्) आदि उद्देश्य से जो मैथुन क्रीड़ा नहीं करता है इस नय की दृष्टि से वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला सम्यग्-दृष्टि हो मिश्र दृष्टि हो या मिथ्या-दृष्टि हो उसे ब्रह्मचारी कह सकते हैं।

था पतित वा,
सुविस्मृतं वा पर-स्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते,
तदकृश चौर्यादुपारमणम् ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३, ५७,

किसी की रखी हुई, पडी हुई भूली हुई तथा विना दी हुई वस्तु को न स्वय ग्रहण करना और न दूसरे को देना—यह अस्तेयव्रत है ।

ब्रह्मचर्य

(१) नैगम-नय

काम और राग की प्रेरणा से दो प्राणियों के संयोग से होने वाले वैषयिक सुख को 'मैथुन' कहते हैं। मैथुन क्रीड़ा न करना इसे 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। जो व्यक्ति अबोध अवस्था में सरुग्ण अवस्था में एवं वार्द्धक्य में स्वास्थ्य रक्षा के लिए, बल वृद्धि के लिए, स्वर्ग प्राप्ति के लिए, परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए, विद्या प्राप्ति के लिए (ब्रह्मचर्येण विद्या विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्) तथा राज-भय से समाज-भय से अपयश के भय से किसी लौकिक कार्य में व्यग्र-चित्त रहने से धन नष्ट होने के भय से समय और स्थान की प्रतिकूलता से विवेक न होने से दवाइयों के द्वारा वीर्य रोकने से उपधातकता से कार्य की सफलता के उद्देश्य से परवशता से आयु, यौवन रूप एवं स्वर—इन सभी की रक्षा के लिए, रोग के भय से (भोगे रोग भयम्) आदि उद्देश्य से जो मैथुन क्रीड़ा नहीं करता है इस नय की दृष्टि से वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला सम्यग्-दृष्टि हो मिश्र-दृष्टि हो या मिथ्या-दृष्टि हो उसे ब्रह्मचारी कह सकते हैं।

विचार भी शुद्ध एवं उच्च रहते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्व-पूर्वक जो सदाचार पालन किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के विषय में संग्रह-नय का यह दृष्टिकोण है।

(३) व्यवहार-नय

श्रेष्ठ आचरण को ही सदाचार कहते हैं। आत्मा के किसी भी एक प्रधान गुण को अपनाने से उसके सहचारी अनन्त गुण अनायास ही स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। उनको अपनाने के लिए कठोर परिश्रम की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे किसी सम्राट् को अपने अनुकूल करने से अन्य सभी राज्याधिकारी स्वयमेव अनुकूल हो जाते हैं वैसे ही अकेले ब्रह्मचर्य के आश्रित अनन्त गुण स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। जितने अंशों में ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक पालन होता जाएगा उतने ही अंश में आत्मा का कल्याण होता जाएगा।

जो सर्वथा अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता फिर भी दुराचार से सन्तोष धारण करना चाहता है तब विवाह की रस्म अदा करनी पड़ती है अर्थात्—जो विवाह किया जाता है वह सदाचार की रक्षा के लिए है न कि भोग की पूर्ति के लिए। जिस प्रकार स्त्री का पति-व्रत धर्म है वैसे ही पुरुष का भी पत्नी-व्रत धर्म है।

विवाह पुरुष और स्त्री के आजीवन साहचर्य का नाम है। यह साहचर्य ही काम वासना की दवा है और ब्रह्मचर्य के समीप पहुँचने का सहज साधन है। यह साहचर्य तभी

निभता है, जबकि एक दूसरे के स्वभाव, गुण, आयु, बल-वैभव तथा सौन्दर्य आदि को दृष्टि मे रखा जाए ।

व्यवहार-नय का मन्तव्य है कि—जो सम्यक्-दृष्टि ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतीज्ञा नही लेता, वह चाहे सारी उम्र भर मैथुन न करे, फिर भी वह ब्रह्मचारी नही कहला सकता, क्योकि सकल्प हीन कार्यों मे सन्देह रहता है । प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेने पर कार्य में विघ्न डालने वाली बाधाओं को सहने की शक्ति पैदा हो जाती है और मन मे दृढता रहती है । साथ ही इस बात का भय भी रहता है कि प्रतिज्ञा भ्रष्ट न हो जाऊँ । बिना प्रतिज्ञा किए, ब्रह्मचर्य व्रत पालन मे परलोक का आराधक नही हो सकता । जिसने स्व-पत्नी पर, अथवा स्व-पति पर आजीवन के लिए सन्तोष धारण कर लिया, वह भी सदाचारी ही है । इस व्रत का नाम स्व-दार सन्तोष व स्व-भर्त्ता सन्तोष है स्व-दार रमण नही है। क्योकि स्व-दार रमण मे स्वच्छन्दता को स्थान है, परन्तु स्व-दार सतोष मे स्वच्छन्दता को स्थान नही है। 'स्व-दार' उसे कहते है—जिसके साथ लोक और समाज की प्रचलित रीति से विवाह हुआ है। उसके सिवाय सभी पर-स्त्री है, अथवा पर-पुरुष हैं । किन्तु उस एक पर भी अत्यासक्ति नही होनी चाहिए, क्योकि जान-बूझकर रोग को पैदा नही किया जाता । यदि कभी रोग पैदा हो जाए, तो उसका इलाज किया जाता है । परन्तु वासना को स्वयं नही जगाना चाहिए, बल्कि उद्दीप्त वासना का सामाजिक मर्यादा मे शमन करना भी सदाचार कहलाता है ।

दोनों (पति पत्नी) में से एक के रुग्ण हो जाने पर या विदेश जाने पर या अन्य किसी कारण से थोड़े काल के लिए किसी को धन देकर समागम करना प्रथम 'अतिचार' है। अविवाहिता गणिका विधवा या पति-परित्यक्ता से समागम करना दूसरा 'अतिचार' है। स्त्रियों के मर्म अङ्ग देखना स्पर्श करना दिन मैथुन के अलावा स्पर्शनेन्द्रिय सुख भोगना काम-सेवन के लिए जो प्राकृतिक अङ्ग हैं उनके सिवाय शेष सब अङ्ग काम-सेवन के लिए अनङ्ग है—जैसे हस्त-मैथुन गुदा-मैथुन आदि तीसरा अतिचार है।

इसी प्रकार दूसरों के पुत्र और पुत्रियों का पुण्य समझकर विवाह करना या दूसरों का रिश्ता छुड़ाकर अपने साथ करना भी 'अतिचार' है। चौथा व्रत धारण करने के पश्चात् अनेक शादियाँ करना भी अतिचार है। क्योंकि आनन्द श्रावक की तरह अपनी स्त्री का नाम लेकर ही यह व्रत धारण किया जाता है। केवल उसी स्त्री पर सन्तोष किया जाता है प्रतिज्ञा करने से पहले जिसके साथ विवाह हो गया हो। जैसे स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं वैसे ही पुरुष को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं है। पुनर्विवाह करना चौथा अतिचार है।

काम-वासना की तीव्र अभिलाषा प्रकट करना पशुओं पर भी नीयत बिगाड़ना विषय-वर्द्धक दवाइयाँ खाना या स्व-पत्नी के साथ भी आवश्यकता से अधिक समागम करना पाँचवाँ 'अतिचार' है। अतिचार से सदाचार दूषित हो जाता है और देश रूप से खंडित भी हो जाता है। इन पाँच

अतिचारो को जानना तो अवश्य चाहिए, परन्तु इन्हे आचरण मे कदापि नही लाना चाहिए। यह है व्यवहार-नय के अनुसार ब्रह्मचर्य की सक्षिप्त परिभाषा।

(४) ऋजुसूत्र-नय

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के दो उपाय है—एक ज्ञान-मार्ग, और दूसरा क्रिया-मार्ग। क्रिया-मार्ग ब्रह्मचर्य के विरोधी सस्कारो को रोकता है, और ज्ञान-मार्ग अब्रह्मचर्य के सस्कारो को निर्मूल कर देता है।

ज्ञान-मार्ग के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रक्षण होता है, परन्तु क्रिया-मार्ग के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रक्षण नही होता। ज्ञान-मार्ग उत्तम उपाय है और उसमे अन्तरङ्ग कारण है।

क्रिया-मार्ग मे बाह्य नियम एव उपनियमो का समावेश हो जाता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग मे वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का सयम रखना ही नही है, अपितु ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। अत उपस्थ इन्द्रिय के सयम के साथ-साथ अन्य इन्द्रियो का निरोध करना भी आवश्यक है।

प्रस्तुत नय उसी को ब्रह्मचारी मानता है, जिस व्यक्ति ने तीन करण और तीन योग से अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग कर दिया हो। इस व्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएँ बतलाई गई है, जिनका पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

पहली भावना—जिस जगह स्त्री, पशु और नपुसक रहते हो, उस जगह नही ठहरना, अर्थात्—जिस स्थान मे

ठहरने से घर में बैठी हुई स्त्री दिखाई दे द्वार से आती-जाती दिखाई दे आंगन में झरोखे में चौबारे में कोठी में महल में या पीछे के स्थान में स्त्रियाँ दिखाई दें या उनकी बात सुनाई देती हों जहाँ स्त्री-श्रृङ्गार की कथा होती हो उनके हँसने-रोने की आवाज आती हो गाने और क्रीड़ा की अवाज आती हो उस जगह कदापि नहीं ठहरना। फिर चाहे वह स्थान कितना ही अच्छा क्यों न हो वहाँ ठहरना ब्रह्मचर्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

जिस प्रकार बिल्ली के निवास स्थान के पास चूहों का रहना असंगत है इसी प्रकार स्त्रियों के रहने वाली जगह में ब्रह्मचारी पुरुष का रहना सर्वथा असंगत एवं हानि कर है। क्योंकि वहाँ रहने से उसके ब्रह्मचर्य में हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। —(उ अ ३२ गा १३)

भले ही मन वचन और काया रूप तीन गुप्तियों से गुप्त ऐसे समर्थ मुनि जो वस्त्र भूषणों से सुसज्जित एवं मनोहर देवाङ्गनाओं द्वारा भी ब्रह्मचर्य व्रत से डिगाये न जा सकते हों तो भी उन के लिए एकान्त हितकारी जानकर विविक्त वास अर्थात्-स्त्री पशु और नपुंसक से रहित स्थान का सेवन करना ही प्रशस्त बतलाया है।

—(उ अ ३२ गा १६)

दूसरी भावना—स्त्रियों की परिषद् में बैठकर विविध प्रकार की हास्य श्रृङ्गार और मोह को पैदा करने वाली कथा न कहे। स्त्रियों के सौभाग्य और दुर्भाग्य तथा ६४ कलाओं का वर्णन अमुक देश की स्त्रियों का वर्णन विवाह आदि का

अतिचारो को जानना तो अवश्य चाहिए, परन्तु इन्हे आचरण मे कदापि नही लाना चाहिए। यह है व्यवहार-नय के अनुसार ब्रह्मचर्य की सक्षिप्त परिभाषा।

(४) ऋजुसूत्र-नय

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के दो उपाय हैं—एक ज्ञान-मार्ग, और दूसरा क्रिया-माग। क्रिया-मार्ग ब्रह्मचर्य के विरोधी सस्कारो को रोकता है, और ज्ञान-मार्ग अब्रह्मचर्य के मस्कारो को निर्मूल कर देता है।

ज्ञान-मार्ग के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रक्षण होता है, परन्तु क्रिया-मार्ग के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रक्षण नही होता। ज्ञान-मार्ग उत्तम उपाय है और उसमें अन्तरङ्ग कारण है।

क्रिया-मार्ग मे बाह्य नियम एव उपनियमो का समावेश हो जाता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग मे वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का सयम रखना ही नही है, अपितु ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। अत उपस्थ इन्द्रिय के सयम के माथ-माथ अन्य इन्द्रियो का निरोध करना भी आवश्यक है।

प्रस्तुत नय उसी को ब्रह्मचारी मानता है, जिस व्यक्ति ने तीन करण और तीन योग से अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग कर दिया हो। इस व्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएँ बतलाई गई है, जिनका पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

पहली भावना—जिस जगह स्त्री, पशु और नपुसक रहते हो, उस जगह नही ठहरना, अर्थात्—जिस स्थान मे

करना आसक्ति पूर्वक उनके रूप आदि का गुण कीर्तन भी न करना परम हितकारी है।

—(उ म ३२ गा १५)

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए तीसरी भावना का पालन भी अनिवार्य है ऐसा महर्षियों का अभिमत है।

चौथी भावना—ब्रह्मचर्य महाव्रत धारण करने के पूर्व गृहस्थ अवस्था में किये हुए भोग-विलास एवंविषय-सुख का तथा श्वशुरालय में उत्सव में खेल-तमाशे में वेष भूषा सहित स्त्री क्रीड़ा आलाप-संलाप विकार-जनक वृत्तान्तों को स्मृति पथ में न आए उनका कभी स्मरण भी न करे। क्योंकि उनका स्मरण करना ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए घातक है अतः चौथी भावना का भी सतर्कता पूर्वक पालन करना चाहिए।

पाँचवी भावना—काम वर्धक आहार न करे अर्थात्—दूध दही घृत तेल गुड़ शक्कर मिश्री मिठाई आदि पौष्टिक तथा रसीले पदार्थों का आहार न करे। एक दिन में अनेक बार भोजन न करे सदैव सरस आहार न करे। खास शाक अचार चटनी मिर्च आदि का अधिक सेवन न करे। लहसुन प्याज का सेवन तो वर्जित है। आहार ऐसा करना चाहिए जिससे शरीर का निर्वाह भी हो सके और संयम तथा ब्रह्मचर्य व्रत की यात्रा भी समाधि पूर्वक ठीक होती रहे अर्थात्—काम उद्दीप्त न हो और इन्द्रियाँ उत्तेजित न हों।

कहा भी है—दूध घृत आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रायः रस मनुष्यों में

वर्णन, उनकी जाति, कुल, रूप, नाम, वेष, अलकार आदि का वर्णन–इत्यादि सहित कथाएँ न तो कहे, न सुने, न पढे और न चिन्तन ही करे। अश्लील कथाएँ कहना, सुनना, पढना और उनका चिन्तन करना भी ब्रह्मचर्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। अत ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए दूसरी भावना का पालन करना अत्यावश्यक है।

तीसरी भावना—स्त्रियो को देखना। उन का हँसना, बोलना, चेष्टा करना और उनका हाव-भाव, कटाक्ष, चाल, विलास, खेल, नृत्य–तमाशा, सौन्दर्य, हाथ-पाँव, नयन, लावण्य, रूप, यौवन, पयाधर, वस्त्र, अलकार, अधरोष्ठ, गुप्त-स्थान आदि जाति तप, सयम और ब्रह्मचर्य के उपघातक है, उन्हे न तो कभी देखे, न वचन से कभी प्रार्थना करे, और न मन से कभी देखने की अभिलाषा ही करे।

जो श्रमण तपस्वी हैं, वे स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास हास्य तथा मधुर वचनो को, इंगित, इशारा या विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टा, अर्थात्—कटाक्ष, विक्षेप आदि का अपने चित्त मे स्थापित करके उन्हे अनुराग-पूर्वक देखने का प्रयत्न कभी न करे।

—(उ० अ० ३२, गा० १४)

सदा ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त रहने वाले तथा धर्म-ध्यान मे तल्लीन रहने वाले साधुओ के लिए स्त्रियो के अङ्ग-उपाङ्ग आदि का राग-पूर्वक न देखना, उनकी इच्छा न करना, उनका चिन्तन न

कामाग्नि को दीप्त करते है। उद्दीप्त मनुष्य की ओर काम वासनाएँ ठीक वैसे ही दौड़ती है, जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दौड़कर आते है।

—(उ० अ० ३२, गा० १०)

जिस प्रकार बहुत ईंधन वाले घने वन मे लगी हुई वायु सहित दावाग्नि शान्त नही होती, उसी प्रकार प्रकाम-भोजी (विचित्र प्रकार के रस युक्त पदार्थो को भोगने वाले) किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रिय रूपी अग्नि शान्त नही होती और वह उसके लिए हितकारी भी नही होती।

औषधियो से दबाई हुई व्याधियो की तरह, अर्थात्—जिस प्रकार उत्तम औषधियो से पराजित की हुई व्याधि फिर आक्रमण नही करती उसी प्रकार स्त्री, पशु, नपुसक से रहित स्थान तथा आसन आदि का सेवन करने वाले तथा इन्द्रियो को दमन करने वाले पुरुषो के चित्त को राग रूपी शत्रु दबा नही सकता।   —(उ० अ० ३२, गा० १२)

विकारमय स्पर्श न करना, विकारमय आसन पर न बैठना विकारी दृष्टि न रखना, विकारी वातावरण से सदा दूर रहना विकारी शब्द और कथा न सुनना, अश्लील शब्द न बोलना रसना पर सयम रखना, विकारोत्पादक स्मरण भी न करना, सदैव विचारो को पवित्र रखना—यह उपाय क्रिया मार्ग से ब्रह्मचर्य की रक्षा का है। यदि इन पाचो भावनाओ को समनाल रूप से वश मे रखे, तो ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हो सकती है। एक भावना मे ढील आ जाने से ब्रह्मचर्य महाव्रत भग होने मे कोई सन्देह नही रहता।

(७) एवंभूत-नय

जब तक घातिया कर्मों का उदय या सत्ता विद्यमान है तब तक सादि अनन्त अवेदी नहीं बन सकता। क्योंकि—साधक ग्यारहवें उपशान्त मोहनीय गुण-स्थान से च्युत होकर पहले गुण-स्थान तक भी आ सकता है। फिर वह अवेदी कहाँ रहा? इस नय की सादि-सान्त अवेदी पर कोई श्रद्धा नहीं है। जब तक ब्रह्मचर्य का पूरा विकास नहीं होता तब तक केवल ज्ञान और केवल-दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर ही सादि अनन्त अवेदी बनता है। यही अवस्था ब्रह्मचर्य की व्यापकता की है। यह है एवंभूत-नय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की संक्षिप्त परिभाषा।

'इन्द्रियों' और सम्पूर्ण 'विकारों' पर पूर्ण अधिकार करना। ब्रह्मचर्य—मन वचन और कार्य मे होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार इन्द्रियाँ मन के अधीन हैं। मन बुद्धि के, और बुद्धि आत्मा के अधीन है। जब बुद्धि आत्मा की सहायिका होती है, तब आत्मा अपने स्वरूप को पहचानता है। अत अपने स्वरूप को पहचानना ही 'ब्रह्मचर्य' है। यह है शब्द-नय की दृष्टि से ब्रह्मचय की परिभाषा।

(६) समभिरूढ-नय

शब्द-नय सातवे, आठवे, और नौवे गुण-स्थान के छह भागो मे से पहले पांच भागो मे, अर्थात्—इन तीन गुण-स्थानो मे रहने वाले साधको मे 'ब्रह्मचर्य' मानता है। जब कि नौवे गुण-स्थान तक वेद मोहनीय का उदय रहता है, अत उसे हम अवेदी नही कह सकते हैं। वस्तुत अवेदी को ही ब्रह्मचारी कहा जाता है, सवेदी को नहीं। ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम, और जघन्य।

वासना को पैदा न होने देना—इसे 'उत्तम' ब्रह्मचर्य कहते हैं। सुलगती हुई वासना को तप और सयम के द्वारा उपशान्त करना—यह 'मध्यम' श्रेणी का ब्रह्मचर्य है। मर्यादा से बाहर भडकी हुई वासना को भी निष्फल कर देना, अर्थात्—निमित्त मिलने पर भी भडकी हुई वासना को पूर्ण न करना, इसे 'जघन्य' श्रेणी का ब्रह्मचर्य कहते हैं। इन तीनो मे उत्तम श्रेणी का ब्रह्मचय ही इस नय को अभीष्ट है। और वह अवेदी तथा वीतराग मे ही पाया जाता है, सवेदी मे नहीं।

(७) एवंभूत-नय

जब तक घातिया कर्मों का उदय या सत्ता विद्यमान है तब तक मानव पूर्ण अवेदी नहीं बन सकता। क्योंकि—साधक ग्यारहवें उपशान्त मोहनीय गुण-स्थान से च्युत होकर पहले गुण-स्थान तक भी आ सकता है। फिर वह अवेदी कहाँ रहा ? इस नय की सादि-सान्त अवेदी पर कोई श्रद्धा नहीं है। जब तक ब्रह्मचर्य का पूर्ण विकास नहीं होता तब तक केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर ही सादि अनन्त अवेदी बनता है। यही अवस्था ब्रह्मचर्य की व्यापकता की है। यह है एवंभूत-नय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की संक्षिप्त परिभाषा।

मूल मेय महम्मस्स,
महा दोस-समुस्सय ।
तम्हा मेहुण-ससग्ग,
निग्गथा वज्जयति ण ॥

—दशवैकालिक सूत्र, ६–११,

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महा दोषो का स्थान है। अत निर्ग्रन्थ भिक्षु मैथुन-ससर्ग का सर्वथा परित्याग करते है।

अपरिग्रह

(१) नैगम नय

अपरिग्रह से पहले परिग्रह का विवेचन करना अधिक उपयोगी है। अतः आगम के अनुसार सर्व प्रथम परिग्रह का वर्णन किया जाता है। आगमों में नव प्रकार का परिग्रह बतलाया है।

परिग्रह का शाब्दिक अर्थ होता है— 'परि-समन्तात् मोह बुद्धया गृह्यते य स परिग्रह'। अर्थात्–जिसे मोह-बुद्धि के द्वारा सब ओर से ग्रहण किया जाय वह 'परिग्रह' कहलाता है। संसार में सभी प्राणी परिग्रह से आवृत है। यद्यपि सभी प्राणियों का परिग्रह भिन्न-भिन्न है तथापि उन सब का अन्त र्भाव नव में ही हो जाता है। जैसे—

(१) क्षेत्र—उपजाऊ खुली भूमि खेत बाग पहाड़ खदान चरागाह वन-विभाग आदि। नहर, कुआ, नल-कूप कूल, अरहट आदि साधनों से जिसकी सिंचाई की जाती है वह प्रथम क्षेत्र है। और दूसरा क्षेत्र वह है जिसकी वर्षा से सिंचाई होती है इत्यादि सभी भूमियों का अन्तर्भाव क्षेत्र-परिग्रह' में हो जाता है।

..

(२) वास्तु—तलघर, हर्म्य, प्रासाद, कोठी, हवेली नोहरा, मकान, दुकान, गाम, नगर, छावनी, तबेला आदि, इन सब का अन्तर्भाव 'वास्तु-परिग्रह' मे हो जाता है।

(३) हिरण्य—चाँदी के बर्तन, चाँदी के उपकरण, चाँदी के भूषण, चाँदी के सिक्के आदि, ये सभी 'हिरण्य-परिग्रह' के अन्तर्गत हैं।

(४) स्वर्ण—स्वर्ण के बर्तन, भूषण, सिक्के तथा अन्य उपकरण आदि, इन सब का अन्तर्भाव 'स्वर्ण-परिग्रह' मे हो जाता है।

(५) धन—टिकिट, नोट, सिक्का, मणि-माणिक्य वज्र, रत्न, हीरक, प्रवाल, मौक्तिक त्रपुप, लोह, सीसा, पाषाण, फैक्ट्री, शख, तिनिश अगुरू, चन्दन, वस्त्र, काष्ठ, चर्म, दत, रूई, कपास वाल, गध द्रव्यौषधि एव रत्न की चौबीस जातियाँ, पण्य, गुड, शक्कर, आदि, इन सभी वस्तुओ का अन्तर्भाव 'धन-परिग्रह' मे हो जाता है।

(६) धान्य—गेहूँ, जौ, चावल, कोद्रव, कँगु, तिल, मूँग, माष (उरद), अलसी, राजमाष, मसूर, कुलत्थ, सरसो, कलाय व्रीहि, मक्कई, चणक आदि, चौबीस प्रकार के धान्य-विशेष 'धान्य-परिग्रह' मे समाविष्ट हैं।

(७) द्विपद—स्त्री, पुत्र, पुत्री, भाई, बहन, मित्र, नाती, गोती, स्वजन, सम्बन्धी, दास-दासी, शुक, मीन, मोर, चकोर, कबूतर, हँस आदि, ये सब दो पाँव वाले प्राणी है। अत इन सब का समावेश 'द्विपद-परिग्रह' में हो जाता है। उपलक्षण

से दो पहिए वाले यान भी इसी परिग्रह में समाविष्ट है।
जैसे—साईकिल मोटर साईकिल आदि।

(८) चतुष्पद—गौ वृषभ महिषी (भैस) हाथी घोड़ा
खच्चर ऊँट भेड बकरी आदि ये सब चार पाँव वाले हैं।
उपलक्षण से चार पहिए वाले जितने भी यान हैं। अर्थात्—
टैक्सी जीप मोटर ठेला गाडी आदि सब का समावेश
'चतुष्पद-परिग्रह' मे हो सकता है क्योकि इनके चार पहिए
होते है। दो पहिए वाले या चार पहिए वाले इन सभी का
समावेश 'धन-परिग्रह' म भी हो सकता है।

(९) कुप्य—उक्त परिग्रह के सिवाय जितनी भी शेष
वस्तुएँ हैं उन सब का समावेश 'कुप्य-परिग्रह' में हो जाता
है। इन सब का अन्तर्भाव दो में भी हो सकता है जैसे—
'चल सम्पत्ति' और 'अचल सम्पत्ति'। सचित्त-परिग्रह' और
'अचित्त-परिग्रह' अथवा 'कनक-परिग्रह' और 'कामिनी
परिग्रह'।

पाँच इन्द्रियों के विषयो मे आसक्त रहना भी 'परिग्रह'
है। जिसका परिचय इस प्रकार है—

(१) श्रवण—जो व्यक्ति जिस इन्द्रिय के विषय में
अत्यासक्त होगा और उस इन्द्रिय के जितने भी विषय हैं
उनके साधन एवं उपकरणों को रखने की भी अवश्य कोशिश
करता है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है—सुनना
अर्थात्—जो सुनने म अधिक व्यग्र रहता है, वह रेडियो सेट
और टैली-ग्राम टेलीविजन टैलीप्रिन्टर गाने-बजाने के साज
बोलने के उपकरण—माईक्रोफोन ग्रामोफोन वायरलैस

आदि सभी प्रकार की वस्तुएँ रखता है।

(२) नेत्र—जो व्यक्ति चक्षुरिन्द्रिय में अत्यासक्त होता है, वह बारह प्रकार के खेल—कुश्ती, टूरनामेन्ट, ड्रामे, थ्येटर, तमाशे सर्कस, मिस्मरेज्म आदि। बत्तीस प्रकार के नाटक—सिनेमा, लीला, उत्सव, मेला, जलसा, जलूस, प्रदर्शनी, सजावट, जगमगाहट, सीन, चित्र, देश-देशान्तर पर्यटन, विशेष प्रकार के दृश्यो का देखना, इन्द्रजालिक कला आदि, इन सब का समावेश 'चक्षु' इन्द्रिय के विषय मे हो जाता है, जोकि परिग्रह का ही रूप है।

(३) नासिका—जो व्यक्ति घ्राणेन्द्रिय मे अत्यासक्त है, वह इन वस्तुओ का रखता है। जैसे पाँच प्रकार के फ़ूल, फल, बीज, पत्र, जडी-बूटी, कस्तूरी, नसवार, इत्र, फुलेल, केवडा, अँबर, आठ प्रकार की गन्ध, द्रव्य, धूप, अगरबत्ती आदि, अर्थात्—जो सुगन्धि युक्त द्रव्य हैं, वे सब घ्राणेन्द्रिय के विषय साधन है। अत उन सभी वस्तुओ का सग्रह करना भी परिग्रह का हेतु है।

(४) जिह्वा—जो व्यक्ति रसनेन्द्रिय मे अत्यासक्त होता है वह इन वस्तुओ का रखता है। जैसे—खाने-पीने के समस्त पदार्थ और उनके उपकरण—जिससे पदार्थ उत्पन्न होते है, जिसमे तैयार किये जाते है, जिसके द्वारा बनाए जाते है तथा पकाए जाते है, जिसमे वे पदार्थ सग्रह करके रखे जाते है, जिसमे साफ किये जाते हैं, जिसमे रख कर सेवन किये जाते है वे सभी 'परिग्रह' कहलाते है। मांस, अण्डा तथा शहद खाना, देसी व अग्रजी शराब पीना, और

मुसफा मांग गांमा चरस मादि का पीना 'महापरिग्रह' कहलाता है ।

(५) त्वचा—जो व्यक्ति स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में अत्यासक्त होता है वह इन वस्तुओं को रखता है । जैसे—बहुमूल्य वस्त्र पहनना ओढ़ना नाना प्रकार के भूषण धारण करना सुकोमल बिछौने पर शयन करना सुखदायी आसनों पर बैठना भोग-विलास के साधन—

शस्त्र-अस्त्र पौउडर साबुन तेल औषधि वायस्लीन क्रीम आदि मातायात के साधन घोड़ा गाड़ी साइकिल मोटर वायुयान हीटर पंखे एयर कण्डीशन रैफ्रीजैरेटर अंगीठी इत्यादि वस्तुएं रखना भी परिग्रह का ही रूप है ।

इस प्रकार इन्द्रियों के जो विषय हैं, उनके समस्त उपकरण रखना भी परिग्रह है अर्थात्—जो जिस इन्द्रिय के विषय में अत्यासक्त है वह उन उपकरणों के लिए अनेक प्राणियों का घात भी करता है झूठ भी बोलता है और चोरी भी करता है अन्य प्रकार के भी बहुत से से कुकर्म करता है । हर समय आर्त-ध्यान तथा रौद्र-ध्यान में लगा रहता है । सदैव काम क्रोध लोभ मोह अहंकार के वशीभूत होता है । कलह निन्दा चुगली भी करता है । दूसरों पर मिथ्या कलंक भी लगाता है और मिथ्यात्व का सेवन भी करता है । जो सदा धर्म से विमुख और पापों के सम्मुख रहता है वह जीवन-पर्यन्त किसी भी इन्द्रिय को तृप्त नहीं कर सकता और अन्त समय में मृत्यु प्राप्त कर दुर्गति में जा पहुँचता है । यह है महा परिग्रहियों की दुर्दशा

का संक्षिप्त परिचय ।

लोभ मोहनीय के उदय से नव प्रकार के परिग्रह को प्राप्त करने के लिए इच्छा पैदा होती है । इच्छा से संग्रह-बुद्धि पैदा होती है । संग्रह से ममत्व-बुद्धि पैदा होती है, अतः सिद्ध हुआ कि मोह-कर्म परिग्रह संज्ञा का प्रवर्तक है । किसी भी वस्तु का ममत्व पूर्वक संग्रह करना 'परिग्रह' है । अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना, वस्तु मिलने पर संग्रह करना, प्राप्त वस्तु पर मूर्च्छा या ममत्व करना, ये परिग्रह के अन्तर्भूत हैं ।

अथवा अनधिकृत सामग्री को पाने की इच्छा करना 'इच्छा-परिग्रह' है । वर्तमान में मिलती हुई वस्तु को आसक्ति पूर्वक ग्रहण करना 'संग्रह-परिग्रह' है । और संगृहीत सामग्री पर ममत्व करना, आसक्त होना, गृद्ध होना 'मूर्च्छा परिग्रह' है । परिग्रह संज्ञा जीव को भौतिक-जगत् में भटकाती है ।

पाँचों इन्द्रियों के जो पाँच विषय हैं, उन में आसक्त होना भी परिग्रह है । पदार्थ स्वयं परिग्रह नहीं है, किन्तु जब उसे पाकर जीव में राग-द्वेष के परिणाम पैदा होते हैं, तब वही पदार्थ उपचार से परिग्रह बन जाता है । वस्तुतः जीव में राग-द्वेष रूप अध्यवसाय ही परिग्रह है । परिग्रह वृत्तियों में और मन में रहता है, वस्तुओं में नहीं । वस्तु 'पर' है, 'पर' में स्व की बुद्धि बनी कि फिर तुरन्त परिग्रह बन जाता है । मूलतः 'मूर्च्छा परिग्रह' है और उससे सम्बन्धित वस्तुएँ भी परिग्रह हैं । वस्तु के बिना जीवन नहीं चलता, अतः परिग्रह पीठ के पीछे रहना चाहिए, मुँह के सामने नहीं । अथवा

असयम अविरमणिता और अक्षामता इन तीनों से संयुक्त जो बाह्य वस्तु है उसे 'परिग्रह' कहते हैं।

जिस पदार्थ का उपयोग व उपभोग ग्रहण व संग्रह व्यक्ति में मूर्च्छा ममत्व या अन्य विकार भाव लाए वह 'परिग्रह' है।

या पदार्थ सामूहिक रूपेण समष्टि में विषमता पूर्ण दुर्व्यवस्था पर अधिकार हरण शोषण दुःख एव विनाश की प्रवृत्तियों को जन्म दे वह 'परिग्रह' कहलाता है। कर्म जन्य विकार को भी परिग्रह' कहते हैं। यही परिग्रह का संक्षिप्त विवेचन है।

नैगम-नय

न परिग्रह इत्यपरिग्रह' अर्थात्—परिग्रह के अभाव को अपरिग्रह' कहते हैं। अपरिग्रह शब्द समस्त-पद है इसमें नञ् समास हो रहा है। नञ् समास दो प्रकार का होता है—एक प्रसज्य निषेधक और दूसरा पर्युदास निषेधक। इनमें प्रसज्य निषेध सर्व-निषेधक होता है और पर्युदास निषेध आंशिक निषेधक होता है।

जिसके बिना गृहस्थ जीवन की यात्रा सामाजिक मर्यादा दान तथापुण्य-क्रिया। एव धर्म-क्रिया निर्विघ्नता पूर्वक न चल सके अर्थात्—जो सामाजिक नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में साधन रूप हो उसे आवश्यकता कहते हैं। आवश्यकता से अधिक परिग्रह न रखना भी 'अपरिग्रह' है।

वह अपरिग्रह भी चार प्रकार का होता है जैसे—द्रव्य से क्षेत्र से काल से और भाव से। इनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) द्रव्य से अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक न रखना आर्य-कर्म, आर्य-वाणिज्य, आर्य-कला, आर्य-शिल्प से द्रव्य उपार्जन करना, अधिक कर न लगाना, मामला (हाडा) अधिक न लगाना, रिश्वत न लेना, ब्लैक मार्केट न करना, किसी पर झूठा दोषारोपण करके न लेना, हिंसा, झूठ चोरी का अवलंबन लेकर द्रव्योपार्जन न करना, दुराचार करके द्रव्योपार्जन न करना, शोषण वृत्ति न रखना 'द्रव्य-अपरिग्रह' है।

(२) क्षेत्र मे अपरिग्रह—किसी भी क्षेत्र मे, ग्राम, नगर, वन म, किसी भी स्थान मे अन्याय और अनीति का अनुसरण न करना। जिस क्षेत्र मे रहे उसमे पूर्वोक्त नियमो का पालन करना 'क्षेत्र-अपरिग्रह' है।

(३) काल मे अपरिग्रह—दिन, रात्रि, सप्ताह, मास, वर्ष, आयु पर्यन्त किसी भी घडी मे कितना ही सुनहरा अवसर अन्याय और अनीति मे द्रव्योपार्जन का मिलता हो, उसे स्वीकार न करना 'काल-अपरिग्रह' है।

(४) भाव मे अपरिग्रह—प्रकृति से भद्रता, सुकोमलता विनीतता, कषाय की मन्दता, प्रशस्त लेश्या, शुभ अध्यवसाय, सन्तोष वृत्ति, ये सब 'भाव-अपरिग्रह' के भेद है।

यदि कोई व्यक्ति स्वार्थ परायण न होकर सिर्फ राष्ट्र की उन्नति के लिए, ग्राम-नगर एव समाज सुधार के लिए, दीन-हीन की रक्षा के लिए, परोपकार के लिए, धर्म-रक्षा के हेतु द्रव्योपार्जन की इच्छा करता है, तदर्थ द्रव्य का सग्रह करता है। अपना तन-मन-धन सर्वस्व मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए बलिदान करता है, तो वह व्यक्ति भी अपरिग्रही है,

क्योंकि महापरिग्रही उक्त क्रिया नहीं कर सकता ।

नैगम-नय

जो अपरिग्रह के स्वरूप को नहीं जानता है न धारण ही करता है किन्तु पालता है वह भी अपरिग्रही है । जानता नही ग्रहण करता है और पालता भी है वह भी अपरिग्रही है ।

संग्रह-नय

परिग्रह की संज्ञा ही परिग्रह की जननी है । जिसमें परिग्रह संज्ञा का बीज मात्र भी है उसे अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता है । मनुष्य की जन्मजात अवस्था मे परिग्रह संज्ञा माता के दूध तक ही सीमित होती है । फिर शनै -शनै माता-पिता भाई बहनों तक फिर खिलौने से समवयस्क साथियों से खाने पीने तथा पहनने की चीजों से विद्या से मन्दरों से डिविजन से रुपये पैसों स स्त्री से बच्चों से व्यापार से मित्र और रिश्ते दारों से उपकरणों से गाय भैस हाथी घोड़ा ऊँट बकरी आदि पशुओं से युग-प्रयोग आदि से परिग्रह संज्ञा अपना घनिष्ट सम्बन्ध जोड लेती है। अन्ततोगत्वा परिग्रह सज्ञा सर्वलोक म व्यापक हो जाती है। ज्यों-ज्यों परिग्रह संज्ञा बढ़ती जाएगी त्यों-त्यों दुःख की मात्रा भी बढ़ती ही जाएगी । प्रस्तुत हुई परिग्रह सज्ञा को मिथ्या-दृष्टि वस्तुत नही समेट सकता है । सम्यक्त्व लाभ से परिग्रह सज्ञा कम हो जाती है और सम्यक्-ज्ञान से उसके स्वरूप को जाना जा सकता है ।

विवेक से तीव्र रस से मन्द रस कर दिया जाता है सम्यक्त्व सम्यक्-ज्ञान और विवेक इन तीनों का क्रिया-काल और

निष्ठाकाल युगवत् ही होता है, क्रमश नही । क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने मे मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियाँ जड-मूल मे नष्ट हो जाती हैं, जिनका क्षय करने की फिर कभी आवश्यकता नही रहती । वे सात प्रकृतियाँ अनन्त ससार वर्द्धक है, दु खो की परम्परा वढाने वाली हैं । उन सात प्रकृतियों के क्षय होने से परिग्रह सज्ञा वहुत हो अल्प मात्रा मे रह जाती है ।

नैगम-नय की मान्यता है कि मिथ्या-दृष्टि भी अपरिग्रही हो सकता है । परन्तु सग्रहनय का कहना है कि जो परिग्रह के स्वरूप को जानता ही नही, वह अपरिग्रही नही हो सकता । क्योंकि जो जिसके स्वरूप को जानता ही नही, वह चाहे धारण और पालन भी करे, फिर भी वह परलोक का आराधक नही हो सकता, क्योंकि वह उसके स्वरूप को जानता ही नही । अत कहना चाहिए कि जो अपरिग्रह के स्वरूप को भली भाँति जानता है, वह अपरिग्रही हो सकता है । वास्तविक न्याय-नीति का स्वरूप भी सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान से ही समझा जा सकता है, मिथ्या-ज्ञान से नही । मिथ्या-दृष्टि वस्तु के वाह्य अङ्ग को समझ सकता है, जान सकता है, किन्तु भीतरी अग को नही। जवकि सम्यक्दृष्टि वाह्य अग को तो जानता ही है, साथ ही उसके भीतरी अग को भी वहुत कुछ जान सकता है । जैसे पुस्तक के वाह्य अग को अनपढ भी जानते है और देखते हैं, परन्तु विशिष्ट विद्वान उसके भीतरी अग को भी जानते है और देखते है ।

(क) द्रव्यमे अपरिग्रह-अनासक्ति भाव से, न्याय-नीति से,

सन्तोष पूर्वक द्रव्योपार्जन करना उदारता से देना 'अपरिग्रह' है।

(ख) क्षेत्र से अपरिग्रह—लोक का असंख्यातवां भाग मात्र ही अपने उपभोग में लाना इससे अधिक नहीं ।

(ग) काल से अपरिग्रह—सम्यक्त्व काल पर्यन्त ।

(घ) भाव से अपरिग्रह—सम्यक्त्व के पाँच लक्षण है जैसे—सम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य ।

जब उक्त पाँचों म स किसी एक में भी सम्यक्त्वी का उपयोग संलग्न हो तब वही परिणाम वही अध्यवसाय 'अपरिग्रह' है। क्योंकि सम्यक्त्व अवस्था में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क इन पाँच प्रकृतियों का बन्धन न होना ही अपरिग्रह है।

क्षायिक सम्यक्त्व अवस्था मे तो भावी काल में भी बन्ध नहीं है

संग्रह-नय का कहना है कि जो व्यक्ति अपरिग्रह का स्वरूप भली भांति जानता है ग्रहण नहीं करता परन्तु पालने का अभ्यास करता है वह भी कथंचित् अपरिग्रही है। जो अपरिग्रह के स्वरूप को नहीं जानता उसका ग्रहण करना और उसका पालन करना अवस्तु है। जैसे मिथ्या-दृष्टि का अपनाया हुआ अपरिग्रह आत्म-कल्याण मे सहयोगी नहीं है क्योंकि वह जानता नहीं है। अज्ञानी का किया हुआ कार्य अज्ञान पूर्वक होता है यह एक सिद्धान्त है।

व्यवहार नय

जहाँ अपरिग्रह है—वहाँ सहानुभूति अहिंसा मैत्री सत्य

ईमानदारी और सदाचार है। जो अपनी इच्छाओं को सिर्फ आवश्यकताओं तक ही सीमित रखता है, अर्थात्—जिसने अपनी इच्छा और मूर्च्छा (ममता) पर प्रतिवन्ध लगा दिया है, उसका गृहस्थ जीवन आदर्शमय, सन्तोषमय और सुखमय वनता है। आदर्श गृहस्थ अन्याय और अनीति से सम्पन्न द्रव्य को विष तुल्य समझता है। वह माया का गुलाम नही होता। उसका वल और शक्ति सहनशीलता एव न्याय के लिए होती है, प्रभाव के लिए नही। उसका अध्ययन ज्ञान के लिए, धन-दान के लिए, शक्ति-रक्षा के लिए, और तप-निर्जरा के लिए होता है।

आदर्श गृहस्थ परिग्रह को परिमित रखता है। वह भी सिर्फ आवश्यकता पूर्ति के लिए, न कि तृष्णा पूर्ति के लिए। मर्यादा से उपरान्त धन, माल, मिलकत, राजपाट, सत्ता, अधिकार मिलने पर भी "लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ" इच्छा और ममत्व का त्याग करता है। वह ऐन्द्रियक भोग भोगते समय अनासक्ति, परमात्मा और मृत्यु का ध्यान रखता है।

अपरिग्रह के बिना अहिंसा सत्य ईमानदारी और सदाचार अपाहिज है। वास्तव में अपरिग्रह त्याग-मूलक नहीं है बल्कि अग्रहण-मूलक है। अपरिग्रह का अर्थ ग्रहण करके त्याग या दान करना नहीं है बल्कि ग्रहण न करना ही वास्तव में अपरिग्रह है।

स्थूलपरिग्रह विरमण-व्रत—ग्रहण-मूलक और त्याग मूलक दोनों प्रकार का है। इसी को इच्छा परिमाण व्रत भी कहते है।

(क) द्रव्य से अपरिग्रह—उपर्युक्त नव प्रकार के परिग्रह में से मर्यादा से उपरान्त सभी प्रकार के परिग्रह से रहित होना 'अपरिग्रह' है।

(ख) क्षेत्र से अपरिग्रह—छह दिशाओं का परिमाण करना दशावकाशिक व्रत की आराधना करना भी 'अपरिग्रह' है।

(ग) काल से अपरिग्रह—दिन सप्ताह पक्ष मास वर्ष यावज्जीवन पर्यन्त।

(घ) भाव से अपरिग्रह—जितना प्रतिदिन त्याग किया जा सके जितनी प्रतिदिन मर्यादित वस्तु को भी कम किया जा सके इच्छा को कम करना संग्रह-बुद्धि को घटाना ममत्व बुद्धि को कम करना जैममाइए मइ चयइ से चयइ ममाइयं' अर्थात्—जो ममत्व बुद्धि का परित्याग करता है वह ममत्व को छोड़ सकता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के सर्वथा क्षय करने से जो भाव पैदा होते हैं वह 'अपरिग्रह' है।

स्थूल परिग्रह केवल निवृत्यात्मक ही नहीं है बल्कि

रूप में नहीं बल्कि कार्य रूप में परिणत हो जाती है। अनु कम्पा भाव से स्नान-खाना कोठी जिसमें दीन-हीन अनाथ अपाहिज रोगी भूखे-प्यासे मुसाफिर आदि सब की देख रेख रहन-सहन औषधोपचार विद्या-दान खाने-पीने तथा रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया गया था। यह है अनुकम्पा का साकार रूप।

उसका दूसरा लक्ष्य था—प्रवचन प्रभावना का। जिसम अनेतर जनता में भी जिन-धर्म के प्रति श्रद्धा सम्मान बढे तथा लोगों को भी मालूम पड जाए कि जब से राजा प्रदेशी श्रमणोपासक बना तभी से दानवीर बना और गरीबों की देख भाल करने लगा। दयावीर दानवीर और शान्त वीर बना राजा का अनुकरण प्रजा ने भी किया। 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत चरितार्थ हुई यह है श्रमणोपासक बनने का पहला दिग्दर्शन।

सनत्कुमार इन्द्र ने पूर्वभव में चतुर्विध श्री संघ को सहायता पहुँचाई वह उसका हितैषी था उन्ह धर्म म सुस्थिर किया उसके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर किया। वस्त्र-दान भोजन-दान औषधि-दान तथा विद्या-दान इत्यादि अनेक प्रकार से चतुर्विध श्री संघ को सहायता पहुँचाई। अनुकम्पा भाव म सहायता पहुँचाने का परिणाम यह निकला कि वह क्षायिक सम्यक्-दृष्टि परित ससारी सुलभ बोधि आराधक और चरम शरीरी बना। यह है आध्यात्मिक क्षेत्र की सफलता आगे चल कर वह चतुर्विध श्री संघ सबका महर्द्धिक दीर्घायुष्क महा सुखी महायशस्वी महाप्रभावक शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र दोनों

प्रवृत्यात्मक भी है। त्याग और अग्रहण निवृत्यात्मक है, क्योकि इसमे निवृत्ति की प्रधानता है। किन्तु इस प्रकार का दान देना प्रवृत्यात्मक अपरिग्रह। स्थूल अपरिग्रह धर्म की त्रिमूर्ति। इच्छा को परिमित से भी परिमित करते रहना।

इच्छा परिमित होते हुए भी अन्याय और अनीति से सग्रह न करना, धर्म से अपनो आजीविका चलाना "धम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणे विहरइ", और न्याय-नीति से उपार्जित सम्पति प्रवचन प्रभावना के लिए, चतुर्विध श्री सघ की समुन्नति के लिए, सहायता पहुँचाने के लिए, श्रुत सेवा के लिए। परिग्रह के ऊपर से ममत्व घटा कर दान देना भी 'अपरिग्रह' है। परन्तु जो व्यक्ति मर्यादा उपरान्त परिग्रह का त्याग और अणु-व्रत धारण कर लेता है, वह यदि दान देता है तो उसका महत्व अधिक है, बनिस्वत उसके जोकि अधर्म से द्रव्य उपार्जित करता है और फिर दान करता है।

राजा प्रदेशी 'जोकि पहले महारम्भी और महा-परिग्रही था, सम्यक्-दृष्टि होने के पश्चात् बारह व्रत केशीकुमार श्रमण के समक्ष धारण किये और उन्ही की साक्षी से अपनी रमणीकता को स्थिर रखने के लिए उसने अपने राज्य की आमदनी का चौथा हिस्सा दान के लिए निकाला। यह सत्य है राजा प्रदेशी के मन मे दान देने के दो लक्ष्य थे—एक अनुकम्पा, और दूसरा प्रवचन प्रभावना। सम्यक्-दृष्टि के अन्दर पांच लक्षण पाये जाते है—शम,सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, और आस्था। सम्यग्-दृष्टि मे अनुकम्पा का होना स्वाभाविक है। सम्यक्-दृष्टि मे अनुकम्पा कारण

उसकी तलहटी पर। त्याग संवर और निर्जरा का कारण है और दान पुण्य तथा निर्जरा का।

जिस समय साधक यह समझ लेता है कि सब प्राणियों में आत्मा एक समान ही है तब वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे एक को दुःख और दूसरे को सुख मिले। वह तो अपनी सुख शान्ति के लिए जितने उपकरणों की आवश्यकता होगी उतने ही लेगा शेष दूसरों के लिए छोड़ देगा। यह है व्यवहार-नय की दृष्टि से अपरिग्रह की परिभाषा।

ऋजुसूत्र-नय

छठे गुण-स्थान में अपरिग्रह धर्म विद्यमान है। क्योंकि पाँचवाँ महाव्रत है सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं तीन योग और तीन करण से सभी प्रकार से परिग्रह का परित्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। जहाँ परिग्रह है वहाँ अवश्य ही ममत्व भाव है। जहाँ ममत्व भाव है वहाँ सभी प्रकार के पापों का समावेश है। जहाँ पाप है वहाँ असंयम है। साधुता में असंयम का सर्वथा अभाव पाया जाता है अतः कहना चाहिए कि साधुता ही अपरिग्रह है। गृहस्थ धर्म में अपरिग्रह सर्वाङ्गीण नहीं हो सकता क्योंकि श्रमणोपासक को भी परिग्रहिया क्रिया लगती है। साधुता में परिग्रहिया क्रिया नहीं लगती एतदर्थ साधु अपरिग्रही हो सकता है गृहस्थ नहीं। क्योंकि जब साधक साधुता अंगीकार करता है तब अपरिग्रह व्रत धारण

इन्द्रो पर जिसका पूर्ण प्रभाव है, इत्यादि अनेक विशेषणो से सम्पन्न तीसरे देवलोक का इन्द्र बना । यह है पुण्यानुबन्धी पुण्य का फलादेश-जिसने क्रमश पहले स्थूलप्राणातिपातविरण व्रत, स्थूल मृपावाद विरमणव्रत, स्थूल अदत्तादान विरमण-व्रत और स्वदारा सन्तोप-व्रत धारण कर लिए हो, तत्पश्चात् अपनी इच्छा को अनन्त पदार्थो से हटाकर मर्यादित कर ली है। आवश्यकता के अनुसार परिमित पदार्थो का सग्रह न्याय-नीति से करता है, उसके द्वारा दिया हुआ दान विशेप महत्व रखता है। वस्तुत वही दान अपरिग्रह मे सम्मिलित है, उसी को दूसरे शब्दो मे त्याग भी कहते हैं। त्याग उसी वस्तु का हो सकता है, जिसके ऊपर से मूर्च्छाभाव हटा दिया हो। जो आशा रखकर दान दिया जाता है, वह त्याग नही गिना जाता। जो सिर्फ दान को ही अधिक महत्त्व देते हैं। त्याग और अग्रहण को उतना नही, वे अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ नही जानते। अपरिग्रहता के विना केवल दान का महत्त्व वैसा ही है, जैसे किसी को बीमार बनाकर फिर उसके लिए औपधि का प्रबन्ध करना। त्याग व अग्रहण अपरिग्रह तो बिल्कुल मूले कुठार करने वाला है और दान ऊपर से ही कोपले नोचने जैसा है। त्याग खाने-पीने की दवा है और दान सिर पर लगाने की सोठ है। त्याग मे पाप का मूल-धन चुकना है, और दान से पाप का व्याज। त्याग मे अन्याय के प्रति चिढ है, और दान मे नामवरी का लालच। त्याग का स्वभाव दयापूर्ण है, और दान का ममता पूर्ण। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, और दान

भौर बन्दर क्म तथैव सचित भौर अचित्त इस प्रकार का परिग्रह साधु न स्वयं रख सकता है न दूसरों से रखवा सकता है। भौर न रखते हुए को भला ही समझता है। यह है साधु का अपरिग्रह धर्म।

द्रव्य से अपरिग्रह

चाँदी सोना रत्न मणि मोती सीप शंख प्रवाल लोहा ताँबा सीसा काँसी पीतल आदि धातुएं क्षेत्र-वास्तु, छत्र कमण्डल पगरखी पंखा मेज कुर्सी सिंहासन पाषाण चम सीम दास दासी प्रेषक हाथी घोड़ा गाय भैंस बकरी भेड़ आदि पशु, रथ यान विमान पोत गाड़ी जहाज वगैरा वस्त्र सरकारी सिक्का नया पोस्टकार्ड पासेंज लिफाफा टिकिट नोट स्टाम्प आदि सभी द्रव्यों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से परित्याग कर दिया जाता है, वह अपरिग्रह है।

क्षेत्र से अपरिग्रह

ग्राम में नगर में या अरण्य में किसी भी स्थान विशेष में ममत्वपूर्ण अपना किसी भी प्रकार का अधिकार न जमाना अर्थात्—ममत्व क्षेत्र से बाहर होना अपरिग्रह है।

काल से अपरिग्रह

प्रतिज्ञाबद्ध अमुक काल तक संयम निरपेक्ष न होना अर्थात्—जीवन के अन्तिम क्षण तक एक भी क्षण-संयम निरपेक्ष न व्यतीत करना अपरिग्रह है।

भाव से अपरिग्रह

प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क के क्षय होने से जो आत्मा

करते हुए इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है कि से अप्प वा वहु वा, अणु वा थूल वा चित्तमत वा अचित्तमत्त व नेवा सय परिग्गह परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गह परिगिण्हाविज्जा, परिगिण्हन्ते वि अन्ने न समणुज्जाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि, न कारवेमि करन्त पि अन्न न समणुजाणामि ॥ —१

'मैं सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग करता हूँ।' वह परिग्रह इस प्रकार है—अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचेतन अथवा अचेतन। परिग्रह को न मै स्वय ग्रहण करूँगा, न दूसरो से परिग्रह को ग्रहण कराऊँगा, और परिग्रह ग्रहण करने वाले दूसरो को भला भी न समझूँगा, आजीवन के लिए मन से, वचन मे और काय से न स्वय करूँगा न दूसरो से कराऊँगा और करते हुए दूसरो को भला भी नहीं समझूँगा।

यहाँ परिग्रह से तात्पर्य है—क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-स्वर्ण-धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद-और कुप्य धातु। वह नव प्रकार का परिग्रह अल्पादि छह हिस्सो में विभक्त हुआ है। वह नव प्रकार का परिग्रह ही अल्प मात्रा मे या अधिक मात्रा में, अथवा अल्प-सख्या मे या वहुसख्या मे होता।

अणु और स्थूल का अर्थ है—वह नव प्रकार का परिग्रह मूल्य मे अणु और महान्, अथवा परिमाण में अणु और महान्, अथवा वजन मे अणु और महान्, अथवा सूक्ष्म रूप

१—दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन—४,

—उक्त क्रिया करने वाले साधु-साध्वी परिग्रही हैं।

ममत्व बुद्धि से रखा हुआ उपकरण भी संयम का उपकरण नहीं रहता वह तो अधिकरण बन जाता है। अनर्थ का मूल कारण बन जाता है। वास्तव में अपरिग्रही वही साधु है जो किसी पर मोह नहीं करता किसी पर अपनापन का भाव नहीं लाता। जो जाने पर नष्ट हो जाने पर अपहरण हो जाने पर आर्त-ध्यान नहीं करता।

प्राणी को जिन संसारिक पदार्थों की इच्छा होती है, वे पदार्थ—शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श है।

प्राय प्रत्येक पदार्थ की इच्छा इन्द्रिय और मन की विषय-लोलुपता से ही होती है। अतएव इन पांच इन्द्रियों के इष्ट विषयों पर राग न करना और अनिष्ट विषयों पर द्वेष न करना ही संयम है। क्योंकि ये विषय शान्ति के भेदक है महाव्रत के भजक है, केवलि भाषित धर्म से भ्रष्ट करने वाले हैं आत्म-बोध से दूर रखने वाले है संसार में भटकाने वाले है कर्म-बन्धक है कषायों के जनक है परिणाम में कटुक है भव रोग तथा पाप के वर्द्धक है।

इन्द्रियों का स्वभाव है अपने अपने विषय को ग्रहण करना परन्तु उनमें राग द्वेष मोह, एवं ममता करना पाप है। किसी भी इन्द्रिय को नष्ट करना फोड़ना अज्ञानता है। यह है ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से परिग्रह और अपरिग्रह की परिभाषा।

शब्द-नय

अप्रमत्त पुण्य-स्थानों में विचरना प्रशस्त ध्यान में तल्लीन

से अध्यवसाय पैदा होते है। अतः क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मिथ्यात्व वेद, अरति, रति, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा इन १४ प्रकार के आभ्यन्तरिक परिग्रह से रहित होना अपरिग्रह है।

संयम में उपयोगी, आवश्यकता-पूर्ति के लिए और संयत जीवन के निर्वाह के लिए ४२ दोष टालकर आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान, आदि सेवन करना भी अपरिग्रह है।

उस नय की दृष्टि से १०० प्रकार का शिल्प सीखना, ७२ कलाएँ सीखना, शस्त्र-अस्त्र बनाने की विद्या और चलाने की विद्या सीखना, राजनैतिक, एवं व्यापारिक भाषाएँ सीखना, धन कमाने की विद्याएँ सीखना, खेती बाड़ी का काम सीखना, डाक्टरी विद्या सीखना, सब परिग्रह है।

पद पाने के लिए, पारितोषिक के लिए, वेतन वृद्धि के लिए यश-कीर्ति के लिए, जो कुछ भी सीखा जाए, पढ़ा जाए, जप किया जाए भक्ति की जाए, सेवा की जाए, मन्त्र-यन्त्र तन्त्र, डोरा, तावीज वगैरा सिद्ध किया जाए, वह सब परिग्रह है। जो साधु या साध्वी असयम मे सहयोगी अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त वस्तु पर आसक्ति, शिष्य शिष्या पर मूर्च्छा करते है, अपने अनुयायी वर्ग को धनाढ्य बनाने की चिन्ता, किसी के पास धनादि न होने पर चिन्ता करना, प्रसिद्धि की इच्छा करना, उपाधि प्राप्त करने के लिए अधिकारी या अनुयायियो द्वारा प्रयत्न कराना, लेख या पुस्तक अपने नाम से दूसरो के द्वारा लिखवाना, गृहस्थ के कार्यों मे भाग लेना, गृहस्थो को अपने काम के लिए भेजना, बुलाना, बैठाना,

औपशमिक भाव में रहना क्षायोपशमिक भाव में रहना औदयिक भाव में रहना छद्मस्थ दशा में रहना साम्परायिक क्रिया में रहना परिग्रह है।

एवंभूत-नय

एवंभूत का सिद्धान्त है कि वास्तविक अपरिग्रह १४ वे गुण-स्थान में होता है क्योंकि वहाँ संवर और निर्जरा का पूर्ण विकास हो जाता है अन्य किसी गुण-स्थान में उनका पूर्ण विकास नहीं है। अतः कहना चाहिए कि १४ वाँ गुण-स्थान ही अपरिग्रह है।

१३ वे गुण-स्थान से निर्वाण नहीं होता क्योंकि वहाँ औदारिक शरीर, तैजस शरीर और वेदनीय आयु, नाम गोत्र ये चार कर्म शेष है। आगम में शरीर और कर्मों को परिग्रह माना है इसलिए १३ वाँ गुण-स्थान अपरिग्रही अवश्य है किन्तु पूर्ण अपरिग्रही नहीं।

पंचसंवर का षटद्रव्यों में वर्गीकरण

अहिंसा का विषय छह द्रव्यों में केवल जीवास्तिकाय तक ही सीमित है। सत्य का विषय सर्व द्रव्यों तथा उनकी सर्वपर्यायों में विद्यमान है। जैसे भगवान् का ज्ञान सर्वव्यापक है वैसे ही सत्य भी इसी कारण जैनागमों में सत्य को भगवान् कहा है। सत्य की आराधना के लिए सम्यक् श्रद्धा सम्यक् प्ररूपणा और सम्यक् पालना आवश्यक हैं तभी जीवन सत्यमय बन सकता है अन्यथा नहीं।

अस्तेय का विषय ग्रहण और धारणा की अपेक्षा सभी

होना, आठ प्रवचन माता की आराधना करना, पूर्ण अहिंसा मय सत्यमय अचौर्यमय ब्रह्मचर्यमय एव जीवन को अपरिग्रह कहते है । इस नय की मान्यता है कि जो प्रमत्त गुण-स्थान है, उनमे विचरना परिग्रह है ।

क्योकि बाह्यपरिग्रह का कारण आभ्यन्तरिक परिग्रह है । आभ्यन्तरिक परिग्रह के निवृत हो जाने से बाह्य परिग्रह की निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है । ज्ञान ससार के बन्धनो से मुक्त करने वाला है, परन्तु यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है तो वह ज्ञान भी परिग्रह है । इसी प्रकार सयम और तप के विषय मे भी समझ लेना चाहिए । इस लोक के उद्देश्य से, परलोक के उद्देश्य से, यश-प्रतिष्ठा और श्लाघा के उद्देश्य से जो कुछ भी शुभ क्रिया की जाती है, वह सब परिग्रह है । अपने वचन का मोह करना, पक्ष-पात करना, हठ करना, सविभाग ठीक न करना, किसी पदवी को पाने के लिए आगमो का अध्ययन करना भी परिग्रह है । १८ प्रकार के पाप-स्थानको मे विरमण न करना भी परिग्रह है ।

समभिरूढ-नय

समस्त पापो से निवृत्त होना, साम्परायिक क्रिया का रुकना, हेय को छोडना, और उपादेय को ग्रहण करना, तप और सयम मे विशुद्ध पराक्रम करना, क्षायिक भाव में रहना, देश-घाति और सर्व-घाति कर्मों से रहित होना, तेरहवें गुण-स्थान मे प्रवेश करना, परम शुक्ल लेश्या में रहना, सर्वज्ञ सवदर्शी बनना अपरिग्रह है ।

पुरुष की अपेक्षा से स्त्री और नपुंसक विजातीय है।

स्त्री की अपेक्षा से पुरुष और नपुंसक विजातीय है।
औदायक — नक की अपेक्षा से पुरुष तथा स्त्री विजातीय है। साम्परायिक परस्पर सजातीय है और, स्त्री-स्त्री भी परस्पर सजातीय है।

(१) विजातीय मन्तर्वर्ती आकर्षक अङ्गोपाङ्ग को रूप कहते है, और सजातीय मन्तर्वर्ती मनोमोहक अङ्गोपाङ्ग को रूप-सहगत पुद्गल कहते हैं।

(२) विजातीय लिंग को रूप कहते हैं और उसके सहयोगी उद्दीपक सर्व अवयव और वेष भूषा को रूप-सहगत पुद्गल कहते है।

(३) विजातीय को रूप कहते हैं और जो वास्तविक रूप से विजातीय नहीं है किन्तु वेष भूषा से विजातीय प्रतीत होता हो उसे रूप-सहगत पुद्गल कहते है।

(४) मैथुन के प्रधान अङ्ग को रूप कहते हैं और तत्सदृश आकार वाली अन्य सभी वस्तुएं रूप सहगत पुद्गल हैं।

(५) विजातीय को नेत्र और मन का विषय करना रूप कहलाता है और विजातीय का चित्र देखना विजातीय मूर्ति का आलिंगन करना रूप-सहगत पुद्गल है।

उपर्युक्त सभी आकर्षकों से आत्यन्तिक निवृत्ति पाना ही ब्रह्मचर्य है।

इसका विषय सभी द्रव्यों में देश-रूप से है, सर्व-रूप से नहीं।

अपरिग्रह का विषय सर्वाङ्गीण है।

शका—जीव और पुद्गल , इन दो द्रव्यो में ही परिग्रह समाविष्ट हो जाता है । धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य अरूपी हैं, अमूर्त हैं, और इनसे सर्वथा निवृत्ति भी नही हो सकती । फिर इनकी गणना परिग्रह में क्यो की गई ?

समाधान—जहाँ तक जीव और पुद्गल का सबध है, वहाँ तक उक्त चारो का सम्बन्ध नियमेन है , अर्थात—जहाँ तक कर्मो के साथ सम्बन्ध है, वहाँ तक नियमेन छहो द्रव्यो के साथ सम्बन्ध है । जो आत्मा आठ प्रकार के कर्मो से रहित हैं, वे अपरिग्रही हैं । आत्म-भाव को छोडकर शेष सभी द्रव्य-पर-भाव हैं । पर भाव से सम्बन्ध विच्छेद करना ही वस्तुत अपरिग्रह है । अपरिग्रह आत्म-भाव है पर भाव नही । विभाव परिणति को परिग्रह कहते हैं, और स्वभाव परिणति को अपरिग्रह ।

आश्रव और वन्ध परिग्रह हैं । सवर, निर्जरा और मोक्ष अपरिग्रह है । अपरिग्रह का पूर्ण विकास १४ वे गुण-स्थान में ही होता है । वही अवस्था सादि अनन्त कहलाती है ।